समरथ

जुलाई-अगस्त 2007 ◆ नई दिल्ली

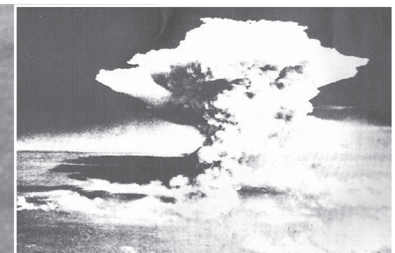

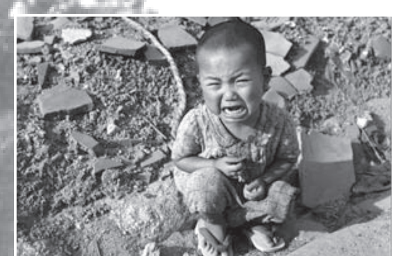

नाहि तो जनम नसाई

पिछली 21 अगस्त को उपमहाद्वीप की संभवतः महानतम महिला उपन्यासकार कुर्रतुलऐन हैदर हमारे बीच न रहीं। आमतौर पर अपने सबसे चर्चित उपन्यास 'आग का दरिया' के लिए जानी जाने वाली कुर्रतुलऐन हैदर उपन्यासकार ही नहीं एक कहानीकार और सक्षम संगीतकार भी थीं। उपन्यास की दुनिया में उन्होंने पहला कदम आज़ादी के फौरन बाद 'मेरे भी सनम ख़ाने' नामक उपन्यास के साथ रखा। इसके बाद 'सफ़ीना-ए-ग़म-ए-दिल' प्रकाशित हुआ। इन दो उपन्यासों के साथ कुर्रतुलऐन हैदर ने भारतीय उपन्यासों की दुनिया में अपना एक मकाम बना लिया लेकिन अपने तीसरे उपन्यास 'आग का दरिया' के बाद वो महान उपन्यासकारों की श्रेणी में शामिल हो गईं। इसके बाद 'कार-ए-जहां-दराज़ है', 'आख़िर-ए-शब के हमसफ़र' (निशांत के सहयात्री), 'गर्दिश-ए-रंग-ए-चमन' और 'चांदनी बेगम' जैसे उपन्यास साहित्य जगत को मिले। उन्होंने चार लघु उपन्यास भी लिखे जोकि महिला उत्पीड़न के मुद्दे के इर्द-गिर्द घूमते हैं। ये लघु उपन्यास हैं : 'दिलरुबा', 'सीता हरण', 'चाय के बाग', 'अगले जन्म मोहे बिटिया न कीजो' और 'हाउसिंग सोसायटी'। इस दौरान इनके जो कहानी संग्रह प्रकाशित हुए वे इस प्रकार हैं : 'सितारों से आगे', 'शीशों के घर', 'पतझड़ की आवाज़', 'रोशनी की रफ़्तार', 'जुगनुओं की दुनियां'।

यद्यपि अपने अंतिम दिनों में कुर्रतुलऐन हैदर का रूझान काफी हद तक आध्यात्म की ओर रहा लेकिन उनका जीवन दर्शन स्पष्ट रूप से 'आग का दरिया' में ही उभरकर आता है। ये जीवन दर्शन इंसान की ज़िन्दगी की निरंतरता में छिपा हुआ है। ज़िन्दगी एक ऐसा कारवां है जिसमें पुराने मुसाफ़िर पीछे छूटते रहते हैं और उनकी जगह नये मुसाफ़िर कारवां में शामिल होते रहते हैं लेकिन ये कारवां कभी रूकता नहीं है। एक अंतहीन सिलसिला है जो चलता आ रहा है और चलता रहेगा। 21 अगस्त को कुर्रतुलऐन हैदर उस कारवां को छोड़ गईं। लेकिन शायद उसी तरह जैसे सरदार ज़ाफरी ने स्वयं अपनी श्रद्धांजलि 'मेरा सफ़र' में कहा है :

मैं सोता हूँ ओर जागता हूँ
और जाग के फिर सो जाता हूँ,
सदियों का पुराना खेल हूँ मैं
मैं मर के अमर हो जाता हूँ।

कुर्रतुलऐन हैदर ने अपने इस दर्शन को टी.एस. इलियट के शब्दों में अभिव्यक्ति दी है और उन्हीं की कविता से अपने उपन्यास 'आग का दरिया' की शुरुआत की है। टी.एस. इलियट की कविता फोर क्वार्ट्रेट के निम्न अंश संभवतः कुर्रतुलऐन हैदर को श्रद्धांजलि प्रस्तुत करने का उपयुक्त माध्यम होंगे।

मैं देवताओं के बारे में ज़्यादा नहीं जानता लेकिन... मैं समझता हूँ कि दरिया
एक ताक़तवर मटियाला देवता है, तुंद मिज़ाज गुस्सैला
अपने मौसमों और अपने क्रोध और कोप का मालिक, ध्वस्तकर्ता
वह उन चीज़ों की याद दिलाता रहता है जिन्हें इंसान भूल जाना चाहते हैं
वह प्रतीक्षक है और देखता है और प्रतीक्षक है
दरिया हमारे अंदर है समुंदर ने हमें घेर रखा है
अंत कहाँ है बेआवाज़ चीख़ों का
पतझड़ में खामोशी से मुर्झाते फूलों का
जो चुपचाप अपनी पंखुड़ियाँ गिराते हैं
जहाज़ के बहते हुए भग्न टुकड़ों का अंत कहाँ है?
अंत कहीं नहीं है सिर्फ़ वृद्धि है
अतिरिक्त दिनों और घंटों का, घिसटती हुई निरंतरता
हमने पीड़ा के क्षणों को ढूँढ निकाला
(प्रश्न यह नहीं कि यह पीड़ा भ्रांति का परिणाम थी

या ग़लत चीज़ों की कामना का या ग़लत चीज़ों के ख़ौफ़ का)
यह क्षण स्थाई है जिस तरह समय स्थाई है
हम इस बात को अपनी पीड़ा की तुलना में दूसरों की पीड़ा में
बेहतर तौर पर समझ सकते हैं।
क्योंकि हमारा अतीत कर्म की धाराओं में छुपा है
लेकिन दूसरों की यातना एक शर्तबद्ध अनुभव है
जो कभी जीर्ण नहीं होता
लोग बदल जाते हैं, मुस्कराते भी हैं मगर पीड़ा मौजूद रहती है
लाशों और घास-फूस को अपनी मौजों में बहाते हुए दरिया की भाँति
समय जो संहारक भी है, स्थिर भी रखता है।

मैं अक्सर सोचता हूँ क्या कृष्ण का यही मतलब था?
कि भविष्य एक मद्धिम गीत है,
और, उनके वास्ते, जो अभी पछताने के लिए पैदा नहीं हुए,
पछतावे का सुर्ख़ गुलाब,
जो एक ऐसी किताब के पीले पन्नों में रखा है
जो कभी खोली नहीं गई।
आगे बढ़ो मुसाफ़िरों ! अतीत से भागकर
तुम विभिन्न जीवनों या किसी प्रकार के भविष्य की ओर
गतिवान् नहीं हो
आगे बढ़ो, तुम, जो समझते हो कि सफ़र में हो
तुम वे नहीं जिन्होंने बन्दरगाह को पीछे हटते देखा
या जो दूसरे तट पर उतरोगे
इस क्षण, कि दोनों तटों के बीच काल स्थगित है,
भविष्य और अतीत पर एक-सा ध्यान करो,
यह क्षण कर्म या निष्कर्म का नहीं? जानो,
कि मौत के समय मनुष्य की चेतना अस्तित्व के
जिस बिन्दु पर भी केन्द्रित हो (और मृत्यु का समय हर क्षण है)
यह केवल कर्म है,
जो दूसरों के जीवनों में फलीभूत होगा।
कर्मफल की चिन्ता न करो, आगे चलो
ओ यात्रियों और मांझियो !
तुम, जो घाट पर उतरोगे और
तुम, जिनके शरीर समुन्दर के फ़ैसले सहेंगे।
या जो कुछ भी तुम पर बीतेगी, वह तुम्हारी मंज़िल होगी।
कृष्ण ने अर्जुन से युद्धक्षेत्र में कहा :
'विदा ! नहीं', बल्कि आगे बढ़ो,
यात्रियों...!

'फोर क्वार्ट्रेट' के कुछ अंश
टी. एस. इलियट

दशरथ मांझी : एक 'पहाड़ पुरूष' का न रहना

■ सुभाष गाताड़े

360 फीट लम्बा और 30 फीट चौड़ा पहाड़ काटने के लिए कितना वक्त़ लग सकता है?

निश्चित ही टेक्नोलॉजी के इस युग में प्रस्तुत सवाल का जवाब इस बात पर निर्भर करेगा कि आप पहाड़ का सीना चीरने के लिए कौन सी मशीन का इस्तेमाल कर रहे हैं। लेकिन अगर आप को यह पूछा जाए कि अगर इसी काम को एक ही शख्स़ को अंजाम देना हो तो कितना वक्त़ लगेगा तो क्या जवाब देंगे आप!

शायद यह चकरा देने वाला सवाल है। लेकिन बिहार के गया जिले के गेलौर गांव में बेहद गरीब मजदूर परिवार में जन्मे एक शख्स़ ने इसका जवाब अपने बाजुओं से, अपनी मेहनत से दिया। पहाड़ को 'हिला देने वाले' इस शख्स़ दशरथ मांझी का पिछले दिनों देहान्त हुआ। 1934 में पंछिया देवी और मंगरू मांझी के यहां जन्मे दशरथ मांझी ने अन्तिम सांस ली।

वर्ष 1966 की किसी अलसुबह जब छिन्नी-हथौड़ा लेकर दशरथ मांझी जब अपने गांव के पास स्थित छोटे से पहाड़ के पास पहुंचे तो बहुत कम लोगों को इस बात का गुमान था कि इस शख्स़ ने दिल में क्या ठान ली है। गांव के भूस्वामी के यहां मजदूरी करने वाले और कभी कभार इधर-उधर काम करने वाले दशरथ मांझी ने जब पहाड़ पर अपनी छिन्नी हथौड़ा चलाना शुरू किया तब आने-जाने वाले राहगीरों के लिए ही नहीं बल्कि उनके अपने गांव के लोगों के लिए भी वह एक हंसी के पात्र थे।

लेकिन अपनी जीवनसंगिनी फगुनी देवी को समय पर इलाज न करा पाने से खो चुके दशरथ मांझी को इन आलोचनाओं से कोई लेना-देना न था। धुन के पक्के दशरथ की अथक मेहनत जो काफी हद तक एकाकी कोशिश थी, बाइस साल बाद रंग लायी, जब उस पहाड़ से एक छोटा रास्ता दूसरे गांव तक निकल गया।

आखिर ऐसी क्या बात हुई थी कि दशरथ मांझी को पहाड़ चीरने का ख्वाब आया। दरअसल पहाड़ को जब तक चीरा नहीं गया था, तब तक दशरथ के गांव से सबसे नजदीकी वजीरगंज अस्पताल 80 किलोमीटर दूर पड़ता था। दशरथ की पत्नी की तबीयत ख़राब होने पर उसे वहां ले जाने के दरमियान ही उसने अन्तिम सांसें ली थी। दशरथ को यह लगा कि काश अगर पहाड़ से कोई रास्ता होता, ताकि मैं अपनी जीवनसंगिनी को वक्त़ पर अस्पताल ले जाता और उसका इलाज करता।

सर्वेश्वर की एक कविता है 'दुख तुम्हें क्या तोड़ेगा? तुम दुख को तोड़ दो ! बस अपनी आंखें औरों के सपनों से जोड़ दो।'

ज़िन्दगी का तीसवां बसन्त पार कर चुके दशरथ मांझी ने शायद शेष गांव के निवासियों के मन में दबी इस छोटी-सी हसरत को अपनी ज़िन्दगी का मिशन बना डाला। और अपनी पत्नी की असामयिक मौत से उपजे प्रचण्ड दुख को एक नयी संकल्पशक्ति में तब्दील किया। पांच छह साल तक दशरथ अकेले ही मेहनत करते रहे, जिसमें रोज 2 से 4 घण्टा मेहनत होती थी। धीरे-धीरे लोग भी जुड़ते गये। वहां एक दान पात्र भी रखा गया था, जिसमें लोग चन्दा डाल देते थे। कई लोग अपने घर से अनाज भी भेज देते थे।

आज की तारीख में आप कह सकते हैं कि गेलौर से वजीरगंज जाने की अस्सी किलोमीटर की दूरी को 13 किलोमीटर ला देने वाला यह रास्ता एक श्रमिक के प्यार की निशानी है, एक अंग्रेजी पत्रकार ने लिखा 'पूअर मैन्स ताजमहल' अर्थात गरीब व्यक्ति का ताजमहल।

कुछ साल पहले जब चर्चित पत्रकार एवं समाजसेवी राधेश्याम मंगोलपुरी उनसे मिलने गये, तब एक फक्कड़ कबीरपंथी की तरह यायावरी कर रहे दशरथ मांझी ने उन्हें अपनी एक प्रिय कहानी बतायी थी जो उस चिड़िया के बारे में थी जिसका घोंसला समुद्र बहा कर ले गया था। कहानी उस चिड़िया की प्रचण्ड जिजीविषा और संकल्प को बयां कर रही थी जिसके अन्तर्गत अहंकारी समुद्र द्वारा घोंसला न लौटा दिये जाने पर चिड़िया अकेले ही समुद्र को सुखा देने का संकल्प रचती है। शुरुआत में उसे पागल करार देने वाली बाकी चिड़िया भी उसके साथ जुड़ जाती हैं। और फिर विष्णु का वाहन गरूड़ भी इन कोशिशों का हिस्सा बनता है। और फिर बीच बचाव करने के लिए खुद विष्णु को आना पड़ता है जो समुद्र को धमकाते हैं कि अगर उसने चिड़िया का घोंसला नहीं दिया तो वह पल भर में उसे सुखा देंगे।

राधेश्याम मंगोलपुरी ने जब उनसे पूछा कहानी की चिड़िया क्या आप ही हैं। इसके जवाब में आंखों में शरारत भरी मुस्कान लिये दशरथ मांझी ने बात टाल दी थी।

पिछले कुछ सालों से दशरथ मांझी कबीरपंथी साधु बन गये थे और यायावर बने हुए थे। लेकिन कबीर का उनका स्वीकार महज ऊपरी नहीं था, उनके विचारों में भी कबीर जैसी

प्रखरता थी। गरीब, मेहनतकशों का ईश्वर पूजा में उलझे रहना और तमाम अंधश्रद्धाओं का शिकार होना उन्हें काफी कचोटता था। वे कहते थे कि जिन्दगी भर फाकाकशी किया आदमी मरता है तो उसके बाद मृत्युभोज में अच्छा-अच्छा पकवान खिलाया जाता है और लोग और कर्जा कर लेते हैं।

आज की तारीख में दशरथ मांझी के काम का काफी सम्मान हो रहा है, यहां तक कि उनके इन्तकाल के बाद उन्हें पूरे राजकीय सम्मान से दफनाया गया जिसके अन्तर्गत सुरक्षाबलों ने मातमी धुन बजायी और सरकार के प्रतिनिधियों ने कंधा दिया। उनके गांव में एक अस्पताल का निर्माण भी हो रहा है जिसका उन्हीं के नाम से नामकरण किया जा रहा है। लेकिन अभी कुछ साल पहले तक भी उनके प्रति उपेक्षा का रुख ही बरकरार था। यहां तक जब उन्हें ईनाम के तौर पर ज़मीन दी गयी तो पता चला कि वह विवादित जमीन थी। कर्जनी गांव समाज की यह ज़मीन दरअसल पशुओं के चरने के लिए छोड़ी गयी थी, वहीं उन्हें दी गयी थी।

दशरथ मांझी हमारे बीच नहीं हैं लेकिन क्या हमें वह उन मिथकीय पात्रों की याद दिलाते प्रतीत नहीं होते, जैसे पात्र हमें विभिन्न पुराणों में मिलते हैं, फिर वह चाहें प्रोमेथियस हों या भगीरथ। ऐसी शख्सियतें जो मनुष्य की उद्दाम जिजीविषा को प्रतिबिम्बित कर रही होती हैं, जो अपनी कोशिशों से प्रकृति की दानवी शक्तियों से या इन्सानियत के दुश्मनों से लड़ते दिखते हैं।

अपने जीवन का फलसफ़ा बयान करते हुए उन्होंने एक पत्रकार को शायद इसीलिये बताया था 'पहाड़ मुझे उतना ऊंचा कभी नहीं लगा जितना लोग बताते हैं। मनुष्य से ज्यादा ऊंचा कोई नहीं होता।'

लेखक का दायित्व

एक बात तो यह समझ लेनी चाहिए कि आम पाठक का बौद्धिक स्तर इन दिनों बहुत बढ़ा है। उसकी समझ बढ़ी है। हो सकता है, वह समझ में लेखक से आगे बढ़ गया हो। इस बात को ध्यान में रखकर हमें लेखन करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि वह भ्रम अब टूट जाना चाहिए कि साहित्य का प्रभाव छोटे-से-मध्यम वर्ग पर ही पड़ता है। मैंने देखा कि छोटे-छोटे कस्बों के अर्धशिक्षित लोगों में भी चेतना है, और वे साहित्य को गंभीरता से लेते हैं तथा समझते हैं। आपका भी अनुभव है कि मध्य प्रदेश में हमने जो पोस्टर कविताएं चिपकाने का अभियान चलाया है, उससे कितना अधिक लोक-शिक्षण हो रहा है। इन कविताओं के शब्द लोगों को मन्त्रों की तरह याद हो गये हैं। लेखक का सबसे बड़ा कर्त्तव्य इस समय लोक-शिक्षण ही है। इस काम को न विश्वविद्यालय करते हैं, न कॉलेज और न राजनीतिक दल। निश्चित ही यह शिक्षण सीधा उपदेश न होकर साहित्यिक होगा। दक्षिणपन्थी ताकतें इस समय पुनरुत्थानवाद को उभारने में लगी हैं। अपने कल्पित स्वर्णिम अतीत की स्मृति से आधुनिक बोध और जीवन-पद्धति को वे रोकना चाहती हैं। दूसरे यही ताकतें मनुष्य को भाग्यवादी बनाने की कोशिश में हैं। जितने धार्मिक प्रवचन, अनुष्ठान, भजन, कीर्तन, यज्ञ इस समय हो रहे हैं, उतने पहले कभी नहीं हुए। ऐसा एक योजना से हो रहा है। जैसा मार्क्स ने कहा है धर्म भ्रमात्मक सुख देता है, जबकि मनुष्य को वास्तविक सुख चाहिए जो सामाजिक परिवर्तन से प्राप्त होता है। शोषक वर्ग आम आदमी को भ्रमात्मक सुख में उलझाकर उसे वास्तविक सुख के लिए संघर्ष करने से रोकता है। लेखक को इस पुनरुत्थानवाद और भाग्यवाद से संघर्ष करना चाहिए और इस सम्बन्ध में जनता को शिक्षित करना चाहिए।

दूसरे, दक्षिणपन्थियों का बड़ा हथियार साम्प्रदायिकता है। हिन्दू और मुसलमान दोनों के साम्प्रदायिक नेता पूंजीवाद-सामन्तवाद समर्थक हैं और अमेरिका के पक्षकार हैं। चाहे जमाइते इस्लामी का नेता हो, चाहे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दोनों समाजवाद और लोकतन्त्र विरोधी हैं। इसलिए अपनी रचना से विभिन्न सम्प्रदाय के लोगों को षड्यन्त्र से परिचित कराना चाहिए कि धर्म या वर्ण या सम्प्रदाय के आधार पर नहीं, वर्ग के आधार पर संघर्ष करने से उनका कल्याण होगा। इसलिए वे एक हो जायें, लड़ें नहीं। बड़ी संख्या में प्रतिबद्ध लेखक विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में पढ़ाते हैं। उन्हें छात्रों को सही शिक्षा देनी चाहिए। उनका राजनैतिक शिक्षण करना चाहिए। हमारे लेखक इस काम में अभी तक विशेष रुचि लेते दिखायी नहीं देते। उन्हें अब गम्भीरता से इस काम को लेना चाहिए।

लेखकों को श्रमिकों, किसानों, खेत-मजदूरों से भी सम्पर्क कायम करना चाहिए। उनके बीच जाना चाहिए। इससे लेखक को उनका जीवन-यथार्थ समझ में आयेगा, और इनका सही शिक्षण होगा। अब वह समय भी आ गया है कि राजनैतिक दलों के नेताओं और श्रमिक नेताओं से लेखक सीधी और साफ-साफ बात करे। वे गलतियां करते हैं, लेकिन उन्हें बताने वाला कोई नहीं है। जैसे मजदूरों से केवल आर्थिक लड़ाई लड़वाते हैं, उनका राजनैतिक शिक्षण नहीं करते और न उन्हें यह अहसास दिलाते हैं कि वही सच्ची क्रान्तिकारी शक्ति हैं। लेखकों को यह बात स्पष्ट करनी चाहिए, जिससे ये नेता अपने को सुधारें। वर्ग-एकजुटता के नाते प्रबुद्ध लेखक का यह अधिकार है।

साभार : परसाई रचनावली

सावरकर के स्वयंभू वारिस !

■ सुभाष गाताड़े

मध्यप्रदेश सरकार के स्वराज्य संस्थान द्वारा 'आज़ादी के दुर्लभ तराने' में पिछले दिनों शामिल वीर सावरकर के गीतों को लेकर राज्य में सत्तासीन भाजपा एवं विपक्ष में बैठी कांग्रेस में वाक्‌युद्ध का एक दौर चल चुका है। कांग्रेस ने सावरकर जैसी विवादास्पद शख्सियत - जिन्होंने जेल से रिहाई के लिए अंग्रेजों के सामने माफीनामा लिख कर देने में या 1942 के दिनों में अंग्रेजों की फौज में हिन्दू युवाओं की भर्ती के लिए मुहिम चलाने में गुरेज नहीं किया था - के महिमामण्डन का विरोध किया है, वहीं भाजपा ने 1857 के संग्राम को 'प्रथम स्वतंत्रता समर' कहने वाले सावरकर के इस अपमान के लिए कांग्रेस को लताड़ा है।

साफ है कि सूबे में कांग्रेस की अपनी कमजोर सांगठनिक स्थिति या उसमें जारी आन्तरिक कलह या विधानसभा में भाजपा को प्राप्त पूर्ण बहुमत की पृष्ठभूमि के चलते इस बात की विशेष उम्मीद तो नहीं की जा सकती कि इस मसले पर कोई व्यापक सरगर्मी - सड़क पर या सदन में - मुमकिन हो। लेकिन संघ-भाजपा द्वारा सावरकर की पुनर्खोज के अभियान के इस कदम ने नये सिरे से इन दोनों के आपसी रिश्तों पर ध्यान केन्द्रित किया है, जिस पर अब तक बहुत कम बात हुई है।

वैसे यह तो सभी जानते हैं कि यह कोई पहला मौका नहीं है जबकि संघ-भाजपा ने अपने आप को सावरकर का सच्चा अनुयायी या वारिस घोषित करने की कोशिश की हो। लोगों को याद होगा कि केन्द्र में भाजपा की अगुवाई वाली गठबन्धन की हुकूमत के दिनों में भी यह मुद्दा जेरेबहस था, जिन दिनों संसद में सावरकर की प्रतिमा के अनावरण को लेकर विवाद गरमाया था। केन्द्र की सत्ता से बेदखली के बाद अन्दमान जेल में लगी उनके नाम की पट्टिका हटाने को लेकर भी काफी हंगामा हुआ था।

हालांकि इस तथ्य को बहुत कम लोग जानते हैं कि सावरकर के बारे में उभरा संघ-भाजपा का प्रेम बहुत हाल की बात है और वह सियासी कारणों से उभरा है। अगर ऐसा नहीं होता तो 1998 के पहले पांच साल जब वह सूबा महाराष्ट्र में शिवसेना के साथ सत्ता में साझेदार थी, उन दिनों सावरकर की एक अदद तस्वीर विधानसभा में लगवा सकती थी, लेकिन इतना भी काम उसने नहीं किया।

संघ-सावरकर के अन्तर्सम्बन्ध को लेकर बहुत मारक टिप्पणी हिन्दू महासभा के नेता और सावरकर के भतीजे विक्रम सावरकर ने कुछ समय पहले पेश की थी। उनके मुताबिक उन्हें इस बात से आश्चर्य नहीं होता कि 'सावरकर में भाजपा की रुचि नहीं है'। उनके मुताबिक 'हम अच्छी तरह जानते हैं कि भाजपा और संघ ने सावरकर के दर्शन को कभी पसन्द नहीं किया।'' उपरोक्त रिपोर्ट के मुताबिक विक्रम सावरकर का यह भी कहना था कि, ''सावरकर के प्रति भाजपा का अचानक उमड़ा प्रेम एक फरेब है। वह दरअसल महाराष्ट्र विधानसभा के चुनावों में मतदाताओं को लुभाने की चाल है।" (सावरकर नेफ़्यू हिट्स आउट एट बीजेपी, इण्डियन एक्स्प्रेस, 30 अगस्त 2004)

अगर आप संघ या हिन्दू महासभा के इतिहास पर या सावरकर-हेडगेवार-गोलवलकर की जीवनियों पर भी नज़र डालेंगे तो पाएंगे कि संघ के नेताओं की सावरकर से यह दूरी उन्हीं दिनों की पैदाइश है जब औपनिवेशिक काल में दोनों की ओर से एक ही तबके को अर्थात हिन्दुओं को अपने पक्ष में करने की कोशिशें चल रही थी। इतिहास इस बात का गवाह है कि सावरकर चाहते थे कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ उनके राजनीतिक संगठन हिन्दू महासभा की युवा शाखा बन जाये, लेकिन हेडगेवार-गोलवलकर ने इस बात से इन्कार किया था; जिसकी वजह से सावरकर ने 'रामसेना' का निर्माण किया था।

गोलवलकर तथा सावरकर के आपसी सम्बन्ध किस हद तक बाद में भी असहज थे, इसका अन्दाजा 1958 में गोलवलकर के दिये एक वक्तव्य से भी लगता है, जो 'श्री गुरूजी समग्र' शीर्षक से संकलित रचनाओं के खंड 10 में 'हिन्दू महासभा का असमवायी दृष्टिकोण' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है (पेज 258)। अम्बाला में आयोजित भारतीय जनसंघ के अधिवेशन में स्वागत समिति का सभापतित्व स्वीकारने पर जब हिन्दू महासभा के पुराने कार्यकर्ता कैप्टन केशवचंद्र को हिन्दू महासभा से निष्कासित किया गया था, उस पर प्रतिक्रिया देते हुए गोलवलकर ने लिखा है कि यह 'लोगों की एकता को छिन्न-विछिन्न करने वाले लोग, राजनीतिक निषेधता एवं राजनीतिक अस्पृश्यता का एक और प्रसंग है।' उन्होंने आगे जोड़ा था 'यह अप्रजातांत्रिक भी है। इसमें से भी राजतंत्रीय निरंकुशता अथवा हृदयविहीन दलीय तानाशाही की दुर्गंध आती है। यह पूर्णतः अहिन्दू दृष्टिकोण है।'

संघ तथा सावरकर के आपसी रिश्तों में सब कुछ कतई सामान्य नहीं था, इसका अन्दाज़ा 'श्री गुरूजी समग्र' शीर्षक से संघ परिवार द्वारा प्रकाशित गोलवलकर की चुनी हुई रचनाओं से भी लगता है, जिसमें वे संघ शिक्षा वर्ग के वार्षिक आयोजन के अपने भाषण में सावरकर को श्रद्धांजलि देने की औपचारिकता भी नहीं निभाते। (श्री गुरूजी समग्र, सुरूचि प्रकाशन, युगाब्द 5106) सावरकर के बारे में प्रदर्शित किये जाते रहे, इस सुविधाजनक मौन की ही निशानी है कि संघ से जुड़े प्रकाशनों द्वारा प्रकाशित गोलवलकर की जीवनियां तक सावरकर के बारे में लगभग मौन रहती हैं। चं. प. भिशीकर, जिनके द्वारा लिखी हेडगेवार की जीवनी भी आधिकारिक मानी जाती है, वह भी 'नवयुग प्रवर्तक श्री गुरुजी' शीर्षक गोलवलकर की जीवनी (लोकहित प्रकाशन, 2003, लखनऊ) में गांधी हत्या के आरोप में गोलवलकर-सावरकर आदि की हुई गिरफ्तारियां जैसे प्रसंगों के सिलसिले में सावरकर के सन्दर्भ को हटा ही देते हैं।

वैसे सावरकर के इन स्वयंभू वारिसों को अगर यह पता चले कि सावरकर ने जीते जी इन सबके आका हेडगेवार-गोलवलकर और उनकी लम्बी चौड़ी स्वयंसेवक मण्डली को उनकी कायरता, बुजदिली और अकर्मण्यता के लिये किस तरह बार-बार लताड़ा था, और संघ के नेताओं ने उन्हें क्या कहा था तो निश्चित तौर पर वह चकरा जाएंगे। उदाहरण के तौर पर, सावरकर ने कहा था ''संघ के स्वयंसेवक का मृत्युलेख होगा, वह पैदा हुआ, वह संघ में शामिल हुआ और कुछ हासिल किये बिना मर गया । (डी. वी. केलकर, ''द आर एस एस'' इकोनोमिक वीकली (4 फरवरी 1950 : 132) निश्चित ही गोलवलकर तथा हिन्दुत्व के अन्य तमाम नेताओं ने उसी सुर में सावरकर पर भी जवाबी हमले भी किये थे। संघ के दूसरे सुप्रीमो गोलवलकर ने तो सावरकर के विचारों के लिए उन्हें कभी 'भेष बदले हुए मुसलमान' के तौर पर भी सम्बोधित किया था।

वैसे आज नहीं तो कल 'परिवारजन' जब अपने अतीत पर बेबाकी से मंथन करेंगे तो उन्हें न केवल इस सवाल से जूझना पड़ेगा कि आज़ादी के आन्दोलन के दौरान संघ को उससे दूर रखने के हेडगेवार-गोलवलकर के फैसले के बारे में वह क्या सोचते हैं? आज़ाद हिन्दोस्तां को एक नया संविधान प्रदान करने की कोशिशों का विरोध करते हुए 'मनुस्मृति' को ही संविधान पर लागू किया जाये, इस किस्म के गोलवलकर के प्रस्ताव के बारे में वह क्या राय बनाते हैं।

लेकिन फौरी तौर पर उन्हें इस सवाल का जवाब देना होगा कि उनके नये आराध्य सावरकर ने 1942 में, जबकि समूचे हिन्दोस्तां की अवाम बर्तानवी हुक्मरानों के खिलाफ खड़ी थी, उन दिनों ब्रिटिश फौज में हिन्दुओं को भर्ती करने की जो मुहिम चलायी थी, क्या वह उचित थी। और सबसे बढ़ कर जिस मुस्लिम लीग के खिलाफ रात-दिन सावरकर जहर उगलते रहे, उसी के साथ 40 के दशक की शुरुआत में बंगाल में 'हिन्दू महासभा' की साझा सरकार चलाने में भी उन्हें किसी तरह के द्वंद से गुजरना नहीं पड़ा था।

उम्मीद की जानी चाहिए कि 'प्रियतम हिन्दुस्तान' और 'पहला फूल खिला' इन दो सीडी में शामिल सावरकर की 16 कविताओं को सुनते हुए उन्हें इन सवालों का भी ध्यान रहेगा !

महाराष्ट्र का सबसे भारी रोग

कैसा शिव?
कैसी शिव-सेना?
कैसे शिव के बैल?
चौपाटी के सागर-तट पर
नाच रहा है भस्मासुर बिगड़ैल !
फैल गए हैं महानगर में उसके चेला-चाटी
गली-गली में कायम कर ली जोर-जुल्म की घाटी
चीफ मिनिस्टर नाइक तक ने मूँद रखी हैं आँखें
शासन-सुख में शिथिल हुईं कल्पना-परी की पाँखें
शिव-सैनिक को नित्य चाहिए श्रमिक वर्ग का रक्त
इसीलिए तो धन-पिशाच होते हैं उसके भक्त
इसीलिए तो मिल-मालिक हैं उसके प्रति आसक्त
शिव-सेना का हुक्म मानते अकलमंद हर वक्त
हिंदू-मुस्लिम-सिक्ख-ईसाई-बौद्ध और ईरानी
शिव-सेना भेजेगी सबको जबरन काला पानी
शिव-सेनावालों की चलती है अपनी सरकार
शामिल है उसमें संघी फिरकापरस्त गद्दार
शिव-सैनिक की पाकिट में है सारा पुलिस विभाग
उसके इंगित से चलती है हवा, सुलगती आग
कहता खुद को बाल ठाकरे हिटलर का अवतार
श्रीचरणों में बिछे हुए हैं सेठों के अखबार
दुआ मिल रही नेताओं से, मिनिस्टरों से प्यार
पहुँच गया यश शिव-सेना का 'सात समुद्दर' पार
थर-थर, थर-थर काँप रहे हैं डर के मारे लोग
शिव-सेना है महाराष्ट्र का सबसे भारी रोग !

साभार : नागार्जुन रचनावली-2

चुन्दूर की सदा

लम्बे इन्तज़ार एवं संघर्ष के बाद दलित हत्याकाण्ड में मिला न्याय

■ सुभाष गाताड़े

अगस्त 1991 में आंध्र प्रदेश में गुंटूर जिले के चुन्दूर में सामने आए दलितों के संगठित कत्लेआम ने राष्ट्रीय स्तर की सुर्खियों में स्थान पाया था। सूबाई स्तर पर सत्ता संश्रय का हिस्सा रहे रेड्डियों द्वारा अंजाम दिए गए इस कत्लेआम में पिछले दिनों विशेष अदालत का फैसला आया, जिसमें कई अत्याचारियों को दण्डित किया गया। मुकदमे का राष्ट्रीय महत्व इस बात में है कि वर्ष 1989 में बनाये गये अनुसूचित जाति एवं जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम के तहत अत्याचार के स्थान पर विशेष अदालत गठन के प्रावधान का इसमें पहली दफा इस्तेमाल किया गया।

आंध्र प्रदेश के गुंटूर जिले के चुन्दूर गांव के डी धनराज को 6 अगस्त 1991 के दिन की एक-एक घटना याद है, जब उसके गांव के उसके अपने समाज के आठ लोगों को गांव के दबंग रेड्डियों द्वारा हमला करके मार डाला गया था। इनमें से पांच मौतें धनराज के सामने हुई थीं। धनराज को भी मरा समझ कर वे आततायी फेंक आए थे, लेकिन वह किसी तरह बच गया था। हत्यायें इतनी सुनियोजित थी और बर्बर ढंग से की गयी थीं कि लोगों को मारने के बाद उन्हें बाकायदा काट कर बोरे में भर कर लोग पास की तुंगभद्रा नदी में फेंक आए थे।

नब्बे के दशक की शुरुआत में देश भर में सुर्खियों में रहे प्रस्तुत चुन्दूर हत्याकाण्ड के हमलावरों को अदालत द्वारा पिछले दिनों दोषी करार दिया गया और सज़ा सुनायी गयी। इक्कीस लोगों को जहां उमर कैद की सज़ा मिली वहीं 35 लोगों को एक साल की बामशक्कत कैद की सज़ा सुनायी गयी।

पांच हजार आबादी के चुन्दूर में माला एवं मादिगा नाम से दलितों की दो जातियों के लोग थे, कुछ संख्या में आदिवासी भी थे, लेकिन गांव एवं इलाके की समूचे राजनीतिक-सामाजिक जीवन पर भूस्वामी रेड्डी जाति के लोगों का ही दबदबा था। सभी जानते हैं कि सूबा आंध्र प्रदेश की सियासत में लम्बे समय तक रेड्डी एवं कम्मा जाति का ही सत्ता पर अपना वर्चस्व बना हुआ है।

हत्याकाण्ड की फौरी वजह गांव के ही सिनेमाघर में कथित तौर पर हुई छेड़छाड़ की घटना थी। इस काण्ड में एक पढ़े-लिखे दलित युवक को नाहक फंसाये जाने की कोशिश का दलितों द्वारा विरोध किए जाने पर सैकड़ों की भीड़ ने दलित बस्ती पर संगठित हमला किया था। अपनी जान बचा कर भाग निकले दलितों को वहीं सड़क पर दौड़ाते मारा गया था और उनकी लाशों को बोटी-बोटी काट कर बगल की तुंगभद्रा नदी के कनाल में फेंका गया था। चार सौ के करीब रेड्डियों की हथियारबन्द भीड़ ने दलितों का पीछा किया था।

यूं तो पढ़े-लिखे दलितों के खिलाफ गांव की दबंग रेड्डी जाति में आक्रोश पहले से पनप रहा था। अनुसूचित जाति के लिए प्रदत्त आरक्षण से लाभान्वित होकर तमाम दलितों ने न केवल अच्छी शिक्षा ग्रहण की थी, बल्कि आलम यह था कि कई मायनों में पढ़ाई में दलित युवक एवं युवतियां आगे थे। भारतीय रेल में इनमें से कई लम्बे समय से नौकरी कर रहे थे। निश्चित ही शुद्धता एवं प्रदूषण पर टिकी जाति-व्यवस्था की बन्दिशों को मानने से उन्होंने इन्कार किया था और हक एवं हुकूक के लिए वे हुंकार भी भर रहे थे।

यह हत्याकाण्ड दलितों के अन्दर बढ़ती दावेदारी को कुचलने का एक विफल प्रयास था। अलबत्ता न्यायपालिका, नौकरशाही एवं पुलिस तंत्र में मौजूद अपने दबदबे के चलते रेड्डियों ने लगातार यह कोशिश की कि इस काण्ड में न्याय न हो। सरकारी तंत्र एवं न्यायपालिका में अपने प्रभाव का इस्तेमाल करते हुए रेड्डियों ने पग-पग भर न्याय की प्रक्रिया को बाधित करने की कोशिश की, लेकिन दलितों ने हार नहीं मानी। इस दौरान मुख्य गवाहों को डराने-धमकाने एवं प्रलोभन देकर खामोश करने की भी कोशिश हुई। सरकार ने पीड़ित दलितों को नौकरी एवं आर्थिक मुआवजा देकर उनका मुंह बन्द करना चाहा, लेकिन न्याय की खातिर दलित अड़े रहे।

सूबा आंध्र प्रदेश के इतिहास में ही नहीं हिन्दोस्तां के दलित मुक्ति संघर्ष में चुन्दूर की यह जीत कई मायनों में 'ऐतिहासिक' श्रेणी में दर्ज की जाएगी। यह पहली दफा है कि दलित अत्याचार निवारण अधिनियम (1989) के अन्तर्गत इसमें गठित विशेष अदालत उस स्थान पर लगायी गयी जहां प्रस्तुत काण्ड हुआ था। दरअसल मामले की सुनवाई के लिए कहीं दूर बनी अदालत में जाने से दलितों ने इन्कार कर दिया और यह मांग की कि यह अदालत वहीं लगे। बाद में सरकार को झुकना पड़ा और एक सरकारी स्कूल को अदालत में तब्दील करना पड़ा। और एक दलित न्यायाधीश को भेजा गया। इतना ही नहीं दलितों ने अपने भरोसे का सरकारी वकील / पब्लिक प्रॉसिक्यूटर पाने के लिए भी संघर्ष किया।

चुन्दूर हत्याकाण्ड का फैसला दलित अत्याचारों की बढ़ती घटनाओं की पृष्ठभूमि में एक ताजी बयार की तरह प्रतीत होता है। सोलह साल तक इन्साफ का अनथक इन्तज़ार करना और एकताबद्ध रह कर हुकूमत को मजबूर करना निश्चित ही कोई मामूली बात नहीं है।

अभी ज्यादा वक्त नहीं बीता जब समूचा मुल्क दलितों पर बढ़ते अत्याचारों की घटनाओं को लेकर ज्यादा चिन्तित दिख रहा था और इस सिलसिले में बुलायी अन्तर्राज्यीय बैठक में खुद वजीरे आज़म मनमोहन सिंह ने इस बात को स्वीकारा था कि ऐसे मामलों में कानूनी मशीनरी लगभग बेअसर हो चुकी है। वैसे यह बात बिल्कुल जगजाहिर है।

दरअसल अनुसूचित जाति-जनजाति के हालात पर जारी किसी भी रिपोर्ट को पलट कर इस हकीकत को जाना जा सकता है। पिछले दिनों राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग द्वारा राष्ट्रपति को सौंपी गई वर्ष 2004-2005 की वार्षिक रिपोर्ट इसी बात को उजागर करती है, जिसमें भारी संख्या में अत्याचार करने वालों की छूटने की दर पर गंभीर चिन्ता व्यक्त की गयी है। इस मामले में प्रशासनिक मशीनरी की भूमिका सबसे खराब दिखती है। उसकी उदासीनता ही दलितों पर जुल्म ढाने वालों का हौसला बढ़ाती है।

सोचने का सवाल बनता है कि क्या दलित-आदिवासियों पर अत्याचार रोकने के लिए बने कानूनों में कोई कमी है या उनके अमल में खामियां हैं। गौरतलब है 1989 में बने अनुसूचित जाति-जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम ने इसके पहले से मौजूद कानूनों की कमियों को काफी हद तक ठीक किया। इसके तहत न केवल मामला दर्ज करने में लापरवाही बरतने वाले अधिकारी पर कार्रवाई का प्रावधान है जिसके तहत उसे कम-से-कम छह माह की जेल भी हो सकती है (धारा 4) वहीं जिन इलाकों में ज्यादा अत्याचार होते हैं उन्हें अत्याचार प्रवण (एट्रोसिटी प्रोन) इलाका घोषित कर उंची, दबंग जातियों के हथियारों को जब्त कर दलितों को हथियार वितरण करने का प्रावधान भी था। दलितों पर अत्याचारों के मामलों को जल्द से जल्द निपटाने के लिए विशेष अदालतों का प्रावधान भी इसमें शामिल था।

इस अत्याचार विरोधी अधिनियम के अमल के बारे में पिछले दिनों सामने आया अध्ययन आंखें खोलने वाला है जिसे अहमदाबाद की चर्चित संस्था 'कौन्सिल फॉर सोशल जस्टिस' ने अंजाम दिया है। (कम्युनैलिज़्म कॉम्बैट, मार्च 2005) प्रस्तुत अध्ययन में कौन्सिल ने इस अधिनियम के तहत वर्ष 1995 से दर्ज 400 मुकदमों की पड़ताल की, जिनका गुजरात के अलग अलग 16 जिलों में बने विशेष अदालतों के सामने निपटारा हो चुका था। 95 फीसदी मामलों में जिनमें आरोपी बाइज्जत बरी किये गये थे, उसकी एकमात्र वजह थी जांच अधिकारियों एवं अभियोजन पक्ष की ओर से बरती गयी तकनीकी किस्म की लापरवाही। अध्ययन में यह भी पाया गया कि जहां भारतीय दण्ड विधान के तहत आरोपियों पर आरोप प्रमाणित हुए थे, वहीं अत्याचार विरोधी कानून के तहत आरोपों को प्रमाणित नहीं किया जा सका था। इस अध्ययन में कई ऐसे मामले भी थे जिसमें राज्य पुलिस एवं पब्लिक प्रॉसिक्यूटर की मिलीभगत के चलते दलितों की हत्या एवं बलात्कार के आरोपी बरी किये गये थे । अध्ययन में यह भी पाया गया कि जांच अधिकारी द्वारा पीड़ित का जाति प्रमाणपत्र नत्थी न करने जैसी हरकत के चलते आरोपियों को बरी किया गया।

इस बात को रेखांकित करने की जरूरत नहीं कि शेष नागरिक समाज के मौन तथा उसकी सहभागिता बिना कानून के साथ खिलवाड़ मुमकिन नहीं है। हाल के अन्य तमाम चर्चित काण्डों में यही बात खुल कर उजागर हुई है। शेष नागरिक समाज अर्थात गैरदलित सिविल सोसायटी का व्यापक हिस्सा खुद बढ़-चढ़ कर या तो हिस्सेदारी करता है या मौन रहना कबूल करता है।

जहां जातियों तथा अन्य तमाम श्रेणियों में बंटे नागरिक समाज को सही ढंग से ढालने में राज्य की असफलतायें साफ हैं वहीं यह बात भी स्पष्ट होनी चाहिये कि आजादी के साठ साल बाद भी इस सामाजिक संघर्ष में संवैधानिक मूल्यों के हिसाब से अपनी भूमिका निभाने में नागरिक समाज बुरी तरह असफल हुआ है। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग द्वारा दलितों पर अत्याचार की पड़ताल करते हुए जारी की गयी रिपोर्ट (नवम्बर 2002) नागरिक समाज में मौजूद सामाजिक मूल्यों के इन्हीं गहरे अन्तर्विरोधों को रेखांकित करती है। दरअसल जाति आधारित समाजव्यवस्था से (शेष) नागरिक समाज लाभान्वित होता है। इसी के चलते वह गैर-बराबरीपूर्ण सामाजिक सम्बन्धों को बरकरार रखता है और समाज के जनतांत्रिकीकरण की हर कोशिश में बाधा खड़ी करता है। एक तरफ जहां लोग जनतांत्रिक उदार समाज द्वारा प्रदत्त अधिकारों एवं विशेषाधिकारों का फायदा उठाने से गुरेज नहीं करते उनके दायरे के विस्तार की बात करते हैं, लेकिन उन्हीं अधिकारों एवं विशेषाधिकारों को दलितों को देने से इन्कार करते हैं। इस तरह जनतंत्र, उदार मूल्यों, मानवतावाद के प्रति उनकी प्रतिबद्धता अपने तक सीमित होती है।

जाति आधारित भारतीय समाज की नैतिक बुनियाद और वहां बनाये जा रहे कानूनी विधान के बीच व्याप्त इसी अन्तराल की ओर डॉ. अम्बेडकर ने संविधान सभा की आखिरी बैठक में भाषण देते हुए ध्यान दिलाने की कोशिश की थी। उनका साफ कहना था कि 'हम लोग अन्तर्विरोधों की एक नयी दुनिया में प्रवेश कर रहे हैं। राजनीति में हम समान होंगे और सामाजिक-आर्थिक जीवन में हम लोग असमानता का सामना करेंगे। राजनीति में हम एक व्यक्ति-एक वोट, और एक व्यक्ति- एक मूल्य के सिद्धान्त को स्वीकार करेंगे लेकिन हमारे सामाजिक-राजनीतिक जीवन में, हमारे मौजूदा सामाजिक-आर्थिक ढांचे के चलते हम लोग एक व्यक्ति - एक मूल्य के सिद्धान्त को हमेशा खारिज करेंगे। कितने दिनों तक हम अन्तर्विरोधों का यह जीवन जी सकते हैं? कितने दिनों तक हम सामाजिक और आर्थिक जीवन में बराबरी से इन्कार करते रहेंगे।''

अब अगर चुन्दूर पर फिर लौटें तो यही बात समझ में आती है कि तमाम विरोधी ताकतों के बावजूद दलितों के निरन्तर संगठित संघर्ष का एवं जन दबाव का ही नतीजा था कि 16 साल बाद ही सही उंची जाति के हमलावरों को सज़ा सुनायी गयी है। उम्मीद की जानी चाहिए कि चुन्दूर की सदा की प्रतिक्रिया देश के बाकी भागों में भी सुनी जा सकेगी।

द्रविड़ साझी विरासत

■ डॉ. रिचर्ड देवदॉस

1. द्रविड़ साझी विरासत से आशय

ऑक्सफोर्ड एडवांस्ड लर्निंग डिक्शनरी के मुताबिक विरासत का मतलब होता है किसी भी देश या समाज का वो इतिहास, वे परंपराएं और विशेषताएं जो अनेक सालों से इस देश या समाज की पहचान बनाये रहती हैं और जो इसके चरित्र का अहम हिस्सा मानी जाती हैं; जबकि साझी उसे कहा जाएगा जो विभिन्न हिस्सों या पदार्थों के संगम का परिणाम होती हैं।

2. द्रविड़ियन लोग

उद्‌गम एवं इतिहास : द्रविड़ों के उद्‌गम और इतिहास को लेकर अनेक सिद्धांत और दृष्टिकोण पाए जाते हैं।

अगर तमिल लोककथा की मानें तो द्रविड़ भारत के दक्षिणी हिस्से में डूब चुके एक द्वीप कुमारी कंदम से आए थे। कुमारी कंदम का नाता लेमूरिया से भी जोड़ा जाता है।

अगर वर्ल्ड बुक एनसाइक्लोपीडिया के पन्नों को पलटें तो पता चलता है की द्रविड़ लोग भारत के शुरुआती बाशिंदों में से थे। उन्होंने 2500 ईसा पूर्व के लगभग, सिंधु घाटी में आधुनिक सभ्यता की नींव रखी थी।

भारत में एक ख़ास भाषा बोलने वाले समूह के लोगों को द्रविड़ कहा जाता है। ऐसा माना जाता है कि सबसे पहले वे ही मूल रूप से प्राचीन भारत में बसे थे। आज यह समूह मुख्यतः भारतीय समाज के निचले तबके के लोगों का है।

द्रविड़ सभ्यता : द्रविड़ सभ्यता को उस सिंधु घाटी की सभ्यता का पर्यायवाची माना जाता है जिसके ज्यादातर दर्शन वर्तमान पाकिस्तान में होते हैं। एक हजार वर्षों तक चलने वाली और हड़प्पा संस्कृति के नाम से प्रसिद्ध इस सभ्यता के बारे में कहा जाता है कि यह हजारों वर्षों तक चली बसने-बसाने की प्रक्रिया का परिणाम थी। व्यापक खुदाई से संकेत मिलते हैं कि 2500 ईसा पूर्व आते-आते द्रविड़ संस्कृति पूरी तरह अपने पैर पसार चुकी थी। अभी हाल में किए गए अध्ययन तो यह उदघाटित करते हैं कि द्रविड़ संस्कृति सिंधु घाटी के पूरे-के-पूरे निचले इलाके में अपनी जड़ें जमा चुकी थी।

सन् 1920 में पाकिस्तान में और भारत में अहमदाबाद के निकट लोथल में की गई खुदाई में पाए गए मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा जैसे विशाल शहर सड़कों की बेहतरीन योजना के साथ बनाए गए थे। इन खुदाइयों के दौरान पाए गए अनेक स्थलों में धार्मिक कार्यक्रमों को इंगित करने वाले चारों ओर से घेरे गए स्थान थे। मोहनजोदाड़ो में मिली विशाल पानी की टंकी का इस्तेमाल धार्मिक अनुष्ठान से जुड़े स्नान की खातिर किया जाता रहा होगा।

सिंधु घाटी की सभ्यता सैकड़ों शहरों को अपने प्रभाव में ले चुकी थी। इनमें से कई शहरों की आबादी तो तीस से चालीस हजार तक थी। उस समय के शहर बेहतरीन सभ्यता के केंद्र थे। प्रत्येक घर में स्नानागार था, और प्रत्येक शहर में गंदी नाली की व्यवस्था थी। मकानों का निर्माण भट्ठे में पके ईंटों से किया जाता था; हालांकि कभी-कभी धूप की गरमी में तपे ईंटों का इस्तेमाल भी किया गया। कुछ मकान तो अनेक कमरों वाले विशाल भवन थे। दूसरे कुछ छोटे मकान थे जिनका निर्माण गरीबों और कारीगरों के रहने के लिए कराया गया था। किलेनुमा भवन यही संकेत देते हैं कि बड़े-बड़े शहरों का प्रशासन चलाने के लिए एक राजनीतिक संगठन भी मौजूद था।

लोथल में तो एक ऐसा बंदरगाह था जो 50 ऐसे समुद्री जहाजों की आवाजाही संभव बनाता था जो दूसरे देशों के साथ व्यापार करते थे और इस सिलसिले में मिश्र तक की यात्रा करते थे।

प्रमुख द्रविड़ समूह : प्रमुख द्रविड़ समूह में निम्न शामिल हैं—पाकिस्तान स्थित बलूचिस्तान के ब्रहूई जो ख़ास मुसलमान हैं, मध्य और उत्तर भारत में बसे गोंड नामक आदिवासी, कन्नड़भाषी लोग, मलयालीभाषी लोग, श्रीलंका और तमिलनाडु में बसे तमिलभाषी लोग और तेलुगूभाषी लोग।

द्रविड़ भाषा : द्रविड़ भाषाई परिवार में 26 भाषाएं शामिल हैं। ये भाषाएं भारत के मुख्यतः दक्षिणी हिस्से में बसे 2 करोड़ लोगों द्वारा बोली जाती हैं, इस प्रकार द्रविड़ लोग दुनिया के चौथे सबसे बड़े भाषाई समूह के रूप में माने जाते हैं। इस समूह में कन्नड़, मलयालम, तेलुगू और तमिल लोग शामिल हैं। दक्षिणी भाषाएं भारत की आबादी के 24 फीसदी हिस्से द्वारा बोली जाती हैं। ये भी माना जाता है कि द्रविड़ भाषाएं पाकिस्तान, नेपाल, बांग्लादेश, अफगानिस्तान, श्रीलंका और ईरान के कुछ इलाकों में भी बोली जाती हैं। बाहर से आकर मलेशिया, सिंगापुर, कनाडा, अमेरिका और इंगलैंड में बसे द्रविड़ भी द्रविड़ भाषाएं बोलते हैं।

द्रविड़ लोगों के लिखने का तरीका बहुत ही जटिल था। मुख्यतः मिट्टी की मोहर पर लिखे अभिलेख उदघाटित करते हैं कि लोगों को लिखने की कला आती थी और वे इसका अभ्यास भी करते थे। द्रविड़ लिपि अभी तक सुलझाई नहीं जा सकी है क्योंकि इसके कोड की कुंजी अनुपलब्ध है। इसलिए इसका पूरा मतलब और महत्व अभी भी नहीं समझा जा सका है। लेकिन कुछ आलेख यह संकेत देते हैं कि लोग गिनना और माप करना जानते थे।

द्रविड़ भाषाओं का अंकित इतिहास 2000 वर्षों से भी ज्यादा का है।

द्रविड़ साहित्य : दक्षिण भारत में बोली जाने वाली द्रविड़ भाषाओं का अपना प्राचीन साहित्य है।

चार मुख्य भाषाए हैं—तमिल, तेलुगू, कन्नड़, और मलयालम।

संगम नाटक शुरुआती पारंपरिक तमिल साहित्य कवियों के दो समूहों द्वारा रचा गया था। एक समूह ने सौंदर्य रस की कविताओं की रचना की। दूसरे समूह ने अपनी कविताओं में सम्राटों के साहस और वैभव तथा अच्छे व बुरे का चित्रण किया। संगम नामक कालजयी साहित्य का रचना काल 300 ईसा पूर्व माना जाता है। संगम साहित्य 473 लेखकों द्वारा रचा गया। इनमें 30 महिलाएं भी शामिल थीं जिसमें से सबसे अधिक मशहूर लेखक कवियित्री अवैयार थीं।

सिलापधिकरम और मणिमेगलाए नामक दो महान ग्रंथ सन् 200 में लिखे गए थे। पांचवी शताब्दी के दौरान तिरुवलूवर ने भद्र जीवन जीने का मार्गदर्शन कराने वाला ग्रंथ थिरुकुरल की रचना की।

छठी शताब्दी के आस-पास तमिल में धार्मिक भक्ति साहित्य लिखे जाने की शुरुआत हुई। नयनार नाम से लोकप्रिय तमिल कवियों का एक समूह भगवान शंकर का भक्त था, वहीं अलवर के नाम से लोकप्रिय दूसरा समूह भगवान विष्णु का भक्त था। दोनों ही समूहों द्वारा रची जाने वाली कविताएं दिल को बहुत गहराई तक छू लेती थीं, वहीं दोनों ही समूहों में महिलाएं कवि भी शामिल थीं।

दूसरी तमिल भाषाओं के साहित्य में भी इसी तरह के गुण पाए जाते थे क्योंकि उन पर भी तमिल व संस्कृत भाषाओं की परंपराओं का असर पड़ा था। तमिल साहित्य मुख्यतः हिंदू व बौद्ध परंपराओं को परिलक्षित करता था, जबकि कन्नड़ साहित्य पर जैनियों का प्रभाव स्पष्ट था। उत्तर भारत के क्षेत्रीय साहित्य की तुलना में दक्षिणी भारत के साहित्य की शुरुआत बहुत पहले हो चुकी थी।

द्रविड़ धर्म : हड़प्पा की खुदाई के दौरान मिली मिट्टी की मूर्तियों से संकेत मिलते हैं कि द्रविड़ लोग मुख्य रूप से मां देवी की पूजा करते थे, जिसकी पहचान बाद में काली के रूप में की गई। पूजा-अर्चना का स्त्रैण आयाम द्रविड़ लोगों के बीच काफी प्रचलित था।

टेराकोटा के मूर्तिशिल्प में स्त्री-आकार शामिल थे, ये आकार देवियों के हो सकते हैं। संभवतः इन देवियों को प्रजनन का प्रतीक माना जाता था और इनके पूजने वाले इनसे स्वस्थ बच्चों और अच्छी फसल की कामना करते थे।

दक्षिण में पहले और आज भी मरिअम्मा, येलेम्मा, कामा, मोरासम्मा, मतांगी, सोलम्मा और मुसम्मा नामक देवियां पूजे जाने वाली स्त्री रूपों में बहुत लोकप्रिय हैं।

द्रविड़ धर्म प्राकृतिक पदार्थों में दैवीय गुण और प्रकृति के शक्तियों में महा प्राकृतिक उपस्थिति की खोज कर सका। पेड़, पत्थर, प्रकृति—ये सभी द्रविड़ पूजा-अर्चना के हिस्से थे। पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल और आकाश नामक प्राकृतिक तत्वों की आराधना की जाती थी। पैतृक पूजा-अर्चना भी द्रविड़ धर्म का आंतरिक हिस्सा था। गण चिन्हवाद यानी किसी जानवर या प्राकृतिक वस्तु को किसी ख़ास समूह या परिवार के ख़ास चिन्ह के रूप में चुनना और उसका सम्मान करना भी द्रविड़ लोगों की आदत में शुमार था।

जानवरों की भी पूजा की जाती थी, इनमें सबसे अधिक लोकप्रिय था कूबड़ वाला बैल। मिट्टी की मोहरों में हाथियों, मगरमच्छों व दूसरे जानवरों की आकृतियां पाई गईं जिससे यही पता चलता है कि जानवरों के प्रति सम्मान द्रविड़ धर्म का अहम हिस्सा था।

द्रविड़ व्यापार और दस्तकारी : पुरातत्वविदों ने खासी मात्रा में सुनिर्मित मिट्टी के बर्तन, बैलगाड़ी की शक्ल की आकृतियों, मानव चेहरे वाली मूर्तियों, तांबे की वस्तुओं और कांच के मनकों को शामिल किया है। इससे साबित होता है कि द्रविड़ लोग दस्तकारी में निपुण थे। उनके द्वारा की जाने वाली दस्तकारी में मूर्तिकला, धातु का काम और शीशे का काम शामिल थे। सिंधुघाटी की सभ्यता और मध्य-पूर्व में मेसोपोटामिया की प्राचीन सभ्यता के बीच मजबूत समानता है। ऐसा माना जाता है कि उत्तर-पश्चिमी भारत और फारस की खाड़ी के बीच समुद्री व्यापार का सिलसिला जरूर रहा होगा।

इस व्यापार से द्रविड़ लोगों को रोज़मर्रा की जरूरी खाद्य पदार्थ और लकड़ी, कपास, रंगने वाली डाई, धातुएं और कांच जैसे कच्चे माल की आपूर्ति होती थी।

द्रविड़ सामाजिक व्यवस्था : इतिहास गवाह है कि द्रविड़ लोग मातृवंशीयता का पालन करते थे। मातृवंशीयता ने महिलाओं को ताकत और सत्ता प्रदान की थी। सामाजिक कार्य व्यापार पर महिलाओं का नियंत्रण था। इससे साफ है कि सम्पत्ति संबंधी पैतृक अधिकार बेटियों को मिलते थे और वो भी मां के द्वारा।

3. प्राचीन द्रविड़ संस्कृति का पतन

द्रविड़ संस्कृति के पतन के कारण के बारे में अनेक सिद्धांत पेश किए जाते हैं :

आर्य संबंधी दृष्टिकोण : द्रविड़ संस्कृति के पतन के बारे में सबसे अधिक लोकप्रिय नज़रिया आर्यों वाला सैन्यवादी नज़रिया है। भारत में आर्यों के इतिहास की जानकारी आर्यों के धार्मिक ग्रंथ चतुर्वेद (चार वेद) से प्राप्त होती है। ये चारों वेद और संस्कृत में अन्य पौराणिक साहित्य बताता है कि आर्य जनजातियों में संगठित थे। वैदिक धर्म और सैन्य शक्ति, दोनों में ही, अश्व यानी घोड़े की महत्वपूर्ण सांकेतिक भूमिका थी। इससे ये संकेत मिलते हैं कि आर्य यूरोप और एशिया के घास के मैदान वाले इलाकों से आए थे क्योंकि घास के मैदान घोड़ों को पालने के लिए उपयुक्त होते हैं। आर्य मुख्य रूप से भारत के जिस हिस्से पर बसे उसे उन्होंने सप्त-सिंध यानी सात नदियों वाली भूमि नाम दिया (आज इसे पंजाब के नाम से जाना जाता है)। पंजाब के मैदानी इलाकों में आर्यों ने पशु-पालन के साथ-साथ अधिक स्थाई खेती भी करी। उन्होंने जंगलों को साफ कर गेहूं और जौ की खेती शुरू की। उन्होंने बढ़ईगीरी का काम भी शुरू किया।

आर्यों ने स्थानीय संस्कृति की अवहेलना की। उत्तर भारत के इलाकों को उन्होंने जीतना और उन पर नियंत्रण करना शुरू कर दिया। साथ ही उन्होंने स्थानीय लोगों को उत्तरी भारत में दक्षिण की ओर या जंगलों की ओर, और दक्षिणी भारत में पहाड़ों की ओर खदेड़ना शुरू कर दिया। इस सिद्धांत के अनुसार इस तरह भारतीय समाज का सामान्य वर्गीकरण कर दिया गया। उत्तर भारतीय आर्य हैं और दक्षिण भारतीय द्रविड़ हैं।

ये भी माना जाता है कि सफेद चमड़ी वाले आर्य जाति-व्यवस्था के जनक हैं। वर्ण का तात्पर्य रंग से है। जाति-व्यवस्था को वर्णाश्रम धर्म के रूप में भी जाना जाता है। जिसे काली चमड़ी वाले द्रविड़ों पर गोरी चमड़ी वाले आर्यों के प्रभुत्व के रूप में देखा जा सकता है।

हालांकि अनेक ऐसे लोग भी हैं जो इस मान्यता को पूरी शंका से देखते हैं कि भारत में भी आर्यों द्वारा अतिक्रमण किया भी गया था। यह शंका भारत पर आर्यों के अतिक्रमण का काल 1500 ईसा पूर्व मानने के कारण है। लेकिन हिन्दुत्व के कुछ जानकारों की मानें तो हिन्दुत्व में कुछ घटनाएं बहुत पहले घटित हो चुकी थी। उदाहरण के तौर पर, महाभारत युद्ध के आर्य-काल के दौरान घटित होने के दावे के बावजूद ऐसा माना जाता है कि यह युद्ध उस काल से 7000 साल पहले हुआ था।

बाढ़ : इतिहासकारों ने अनेक दूसरे विकल्प भी सुझाए हैं, इनमें से एक यह है कि सिंधु घाटी के बाढ़-ग्रसित होने के कारण पतन हुआ था।

खेती की विफलता : एक अन्य संभावना यह बताई गई है कि आबो-हवा में आए बदलाव के कारण बरसात में कमी आ गई जिसके कारण खेती सूख गई, लिहाजा देश के दक्षिणी हिस्से की ओर व्यापक पलायन होने लगा।

अंतर्समूह प्रतिस्पर्धा : अंतर्समूह प्रतिस्पर्धा और युद्ध के चलते कुछ समूहों को मिली जीत और दूसरे समूहों के खात्मे को भी द्रविड़ सभ्यता के पतन के कारणों में शामिल माना जाता है।

(4) नई प्रवृत्तियों का उभार

प्राचीन द्रविड़ संस्कृति प्राचीन भारत के इतिहास का एक गौरवपूर्ण अध्याय था। यह एक सभ्य, शांत और मातृसतात्मक साम्राज्य रूपी भारत था जिसका अनेक कारणों से अवसान होता चला गया।

फिर भी तमिलनाडु में पेरियार महाराष्ट्र में बाबा साहेब अंबेडकर, केरल में श्री नारायण गुरु और अय्यानकली, आंध्र प्रदेश में कवि मोई मीमाना व रंगास्वामी और सी आर रेड्डी जैसी महान विभूतियां तथा कर्नाटक का ब्राह्मण विरोधी आंदोलन धन्यवाद के पात्र हैं क्योंकि इनके कारण द्रविड़ अभिमान की अग्नि एक बार फिर प्रज्वलित हुई है।

पेरियार रामासामी ने द्रविड़ भूमि के मूल बाशिंदों या स्थानीय लोगों को रेखांकित करने के लिए आदि द्रविड़ शब्द की रचना की। इनके आधिकारिक दलित दर्ज़े को घोषित करने के लिए कर्नाटक और आंध्र प्रदेश में क्रमशः आदि कर्नाटक और आदि आंध्र शब्दों का इस्तेमाल किया जाता है। आदि द्रविड़ उन दलितों की ओर संकेत करता है जो पंचम हैं यानी पांचवा समूह है जिसे वर्णाश्रम धर्म के तहत चतुर्जातीय व्यवस्था में शामिल करने लायक भी नहीं समझा जाता है। दूसरी तरफ, दलित मानते हैं कि वे इतने कमज़ोर नहीं हैं कि उन्हें जाति व्यवस्था के खांचे में बांधा जाए। वे जाति-संबंधों के पार हैं... उनकी जाति, जाति-व्यवस्था से परे है..

आज उपरोक्त प्रवृत्तियों के अलावा अनेक ऐसे कारण हैं जो भारत के दक्षिणी हिस्से के लोगों को द्रविड़ साझी विरासत की श्रेणी में रखते हैं।

आज आदि द्रविड़ के नाम से जाने जाने वाले और तमिलनाडु में दलित कहलाए जाने वाले द्रविड़ लोगों की एक साझी भाषा है। यह भाषा तमिल है। ऐसा ही कुछ आंध्र, कर्नाटक और केरल में भी है जहां क्रमशः तेलुगू, कन्नड़ और मलयालम भाषाएं जोड़ने का काम करती हैं।

पूजा-अर्चना से जुड़ी गतिविधियों के मामले में भी संयोजक काम करते हैं क्योंकि तमिलनाडु के उप-दलित समूह पलार, पेरियार और अरुंथाथियर, साथ ही आंध्र के मलास एवं मघिगा जैसे उप-दलित समूह अपने ही समूहों के पुरखों, नायक-नायिकाओं की पूजा करते हैं और प्रकृति, जीवों व जड़ पदार्थों के प्रति विस्मय का भाव रखते हैं।

हालांकि जहां तक संगीत, गीत, नृत्य और पेशे का सवाल है हर एक उप-समूह की अपनी एक अलग पहचान होती है। उदाहरण के तौर पर पेरियार उत्कृष्ट ढोल वादक होते हैं और उनके गीत लयपूर्ण होते हैं और आरोही स्वर उत्कर्ष पर पहुंच जाता है।

हम समसामयिक द्रविड़ साझी विरासत के संदर्भ में निम्न को भी शामिल कर सकते हैं—

अंबेडकर जयंती मनाना, चुनावी गठबंधन करना, ख़ासकर स्कूलों में बच्चे भी अच्छे समन्वयक बन सकते हैं। पोंगल का जश्न, जो कि वास्तव में फसलों की कटाई का त्यौहार है। युवाओं के लिए व्यावसायिक प्रशिक्षण, वैकल्पिक आजीविका संबंधी विकल्प, शांति स्थापित करने की दिशा में प्रयास, स्कूल, पूजा-स्थल, दमन का साझा इतिहास और दमनकारियों में साझापन।

हालांकि हर एक इलाक़े की अपनी विशिष्ट साझी विरासत होती है, यह अपनी विरासत हम अपने पड़ोसियों के साथ भी बांटते हैं। इस मामले में द्रविड़ साझी विरासत भी अपवाद नहीं है। अपनी ख़ासियत और ख़ास पहचान होने के बावजूद द्रविड़ साझी विरासत खुद को भारत और दक्षिण एशिया के दूसरे हिस्सों के साथ बांटती है। इसका प्रमुख उदाहरण आजादी की लड़ाई का वो साझा इतिहास है जिसके पूरे इलाके के द्रविड़ और गैर द्रविड़ हिस्सेदार हैं और मालिक भी हैं।

उर्दू भाषा और साहित्य

■ फ़िराक़ गोरखपुरी

मुसलमानों को हिन्दुस्तान में आकर बसे हुए कई शताब्दियां बीत चुकी थीं। भारत की भिन्न-भिन्न भाषाएं बन चुकी थीं। उनमें अभी गद्य तो नहीं, लेकिन कविता की ध्वनि गूंजने लगी थी और सभी भाषाओं में हिंदुओं के साथ-साथ उनकी ध्वनि में अपनी ध्वनि मिलाकर वे कविता कर रहे थे। ख़ुसरो, कबीर साहब, मलिक मोहम्मद जायसी, रसखान, आलम और इन्हीं के सदृश कई सौ दूसरे मुसलमान पुरुष और स्त्री हिंदी कविता को मालामाल कर रहे थे। साथ ही कई मुसलमान और कुछ हिन्दू फ़ारसी में भी काव्य रचना कर रहे थे। इसके अतिरिक्त फ़ारसी में बहुत रचा हुआ और परिष्कृत गद्य भी लिखा जा रहा था।

दकन में मुसलमान उत्तरी भारत से जा बसे और कुछ शताब्दियों के बाद ही दकन की बोलियां बोलने लगे। लेकिन आज से लगभग पांच सौ वर्ष पूर्व उत्तरी भारत की जो बोली थी, उसे भी वे अपने साथ दकन लेते गये थे। अभी इस भाषा में उत्तरी भारत में साहित्य का सर्जन नहीं हुआ था, लेकिन दकन में उत्तरी भारत की भाषा में कई सौ वर्ष पूर्व कविता होने लगी थी और कुछ गद्य की पुस्तकें भी लिखी गयीं। इस कविता और इस गद्य में पहले-पहल आज की उर्दू कविता की झांकी मिलती है। इस हिंदीनुमा दकनी भाषा में पहले-पहल अरबी-फ़ारसी के शब्द हिंदी शब्दों के साथ नगीने की तरह जड़े हुए देख पड़ते हैं। फ़ारसी काव्य के जितने प्रकार और जितने छंद हैं, उन्हें भी दकनी हिंदी में काम में लाया गया।

अट्ठारहवीं शताब्दी की दो-तीन दहाइयां बीत चुकी थीं। मुग़ल राज्य अभी जीवित था, उसे 1897 तक जीवित रहना था, लेकिन वह अन्दर से जर्जर हो चुका था। दकन प्रांत के सूबेदार आसिफ़जाह ने अपने को स्वतंत्र कर लिया था। ऐसा ही अवध के नवाब ने भी किया था। यही हाल बंगाल का भी था। कई और नवाबों ने भी अपने को स्वतंत्र या अर्ध-स्वतंत्र घोषित कर रखा था। जाटों और सिखों की शक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। मराठों ने भी बड़े-बड़े प्रान्तों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर रखा था। ईस्ट इंडिया कंपनी के अंग्रेज़ व्यापारियों का प्रभाव प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। उसी समय अहमदशाह अब्दाली और नादिरशाह ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण कर दिया और जी भर कर उसे लूटा और अपमानित किया। इसी डांवाडोल युग में जब हिंदुस्तान में अराजकता फैल रही थी, दिल्ली में उर्दू कविता की पहली बोलियां सुनाई पड़ीं और इसी युग में उर्दू के दो महाकवि 'मीर' और 'सौदा' ने ऐसी काव्य रचना की जिसे रहती दुनियां तक हम भूल नहीं सकते।

दिल्ली में ऊंचे घराने के मुसलमानों की एक सभ्यता बन चुकी थी। इस सभ्यता के कई केन्द्र भारत के कई नगरों में बन चुके थे और बनते जा रहे थे। ऐसे हर केन्द्र में एक पाठशाला रही होगी, जहां अरबी और फ़ारसी की शिक्षा दी जाती होगी और उर्दू शायरी से सम्बन्धित वार्तालाप होते होंगे। हैदराबाद दकन, मुर्शिदाबाद, पटना, लखनऊ, मुरादाबाद, फर्रुख़ाबाद, काकोरी, मानिकपुर ऐसे सैकड़ों क़सबों में ज्ञान और साहित्य की साधना होती रही होगी और कविता की तूती बोलती रही होगी।

भारत में रहने वाले मुसलमानों के जीवन के कतिपय तथ्यों को अवश्य जान लेना चाहिए। एक तो इनमें नागरिकता की स्पष्ट झलक मिलती है और ऊंचे और सभ्य घराने के लोग गांव की बोली नहीं वरन् इनके बच्चे-बच्चियां, स्त्री-पुरुष, रिश्तेदार और इनसे मिलने-जुलने वाले लोग तथा नौकर तक खड़ी बोली बोलते रहे होंगे। दूसरा सत्य इनके जीवन का यह होगा कि इन घरानों की स्त्रियां अनपढ़ और अशिक्षित नहीं रही होंगी। इन्हें अरबी में क़ुरआन पढ़ना और इसे उर्दू में समझना था। दिल्ली और कई बड़े-बड़े शहरों में भटियार-ख़ाने स्थापित हो चुके थे। भटियारों की ज़बान कैंची की तरह चलती थी। प्रतिदिन के व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले मुहावरों और टकसाली भाषा की वर्षा हो रही थी। मगर भटियारख़ानों और कारवां सरायों में तो लोग केवल यात्रा-काल में ही आते-जाते होंगे। दिल्ली और कई शहरों में नानबाइयों की इतनी दुकानें खुल चुकी होंगी कि बहुत से घरों में खाना पकाने की आवश्यकता ही नहीं रही होंगी। घर की स्त्रियाँ और लड़कियां सीने-पिरोने, कढ़ाई के कामों और बेल-बूटाकारी के कामों में अपना समय लगा रही होगी। ऐसे घरों के पुरुष और लड़के अपना अधिकांश समय घर की स्त्रियों के साथ उठने-बैठने, बातचीत करने, भोजन और ब्यालू करने में व्यतीत करते होंगे। टकसाली उर्दू में बातें होती होगी। कोई बात कहने में जहां भूल-चूक हुई, औरतें तुरंत टोक देती होंगी। उर्दू भाषा दिन प्रतिदिन सांचे में ढलती जा रही थी। जामा मस्जिद की सीढ़ियों पर सैकड़ों तरह के खोन्चे वाले बैठते थे और सब अपनी-अपनी बात दिल्ली की उस टकसाली बोली में कहते थे जो चार-पांच सौ बरस पहले बन चुकी थी और बनती जा रही थी और जिसके सांचे 'मीर' और 'सौदा' के युग तक अस्सी-नब्बे प्रतिशत की सीमा तक तैयार हो चुके थे।

यह बोली सांचे ढालती जा रही थी और सांचों में ढलती जा रही थी।

जब इस बोली की हैसियत जब एक कच्चे माल की थी तब यह बोली जाटों की बोली थी। कड़ी, खुरदरी, बेलचक, अनगढ़ और कर्णकटु। इस बोली में न तो ब्रजभाषा का माधुर्य था और न अवधी की कोमलता। इसमें अच्छे गीत तक न थे। उर्दू से पहले जो काव्य रचना खड़ी बोली में की गयी थी, वह कुछ उन साधुओं और सन्तों की देन थी जो निर्गुण सम्प्रदाय के थे, जो राम और रहीम की एकता बताते थे। खड़ी बोली की इस कविता में एक्का-दुक्का अरबी-फ़ारसी शब्द भी आ गये थे। लेकिन सांसारिक जीवन के काव्य का प्रणयन इसमें बहुत अल्प हुआ था। प्रेम और सौंदर्य की कथाएं उर्दू से पूर्व खड़ी बोली में मिलना कठिन है। हां, नीति और धर्म सम्बन्धी काव्य-रचना अवश्य मिल सकती है। उर्दू के रूप में जब यह कविता आगे बढ़ी तो इसमें सभ्यता और संस्कृति अपने पूर्ण शृंगार के साथ परिलक्षित हुई। आये दिन की बातें, कोमल-कांत भावनाएं, दर्शन और नीति, जीवन और सृष्टि पर दूर तक पहुंचने वाले अनुभव और विचार, वर्णन के सैकड़ों रूप और शैलियां इस भाषा में आविर्भूत हो गयीं।

यहां एक प्रश्न उठता है। वह यह कि जब उर्दू कविता से सैकड़ों वर्ष पूर्व की हिंदी कविता और भारतवर्ष की दूसरी भाषाओं की कविता में अरबी, फ़ारसी शब्द या तो नहीं थे या न होने के बराबर थे तो फिर उर्दू कविता में अरबी-फ़ारसी की विदेशी शब्दावली का इतना प्रयोग क्यों हुआ? इन विदेशी शब्दों की आवश्यकता ही क्या थी? यह सच है कि उर्दू को छोड़कर भारत की अन्य भाषाओं की कविता में विदेशी शब्द नहीं होते या न होने के बराबर हैं। लेकिन दक्षिणी भारत की भाषाओं को छोड़कर उत्तरी भारत की भाषाओं में कई हज़ार अरबी और फ़ारसी के शब्द मिलते हैं। उर्दू कविता का पंचानबे प्रतिशत भाग ऐसा है कि जिसमें वे ही अरबी और फ़ारसी के शब्द आते हैं जिन्हें अशिक्षित मुसलमान भी बोलते और समझते हैं। फिर ये शब्द विदेशी कहां रहे? पहले बताया जा चुका है कि हज़ारों अरबी और फ़ारसी शब्द मुसलमानों के आने के पश्चात ही हमारी बोली में घुल-मिल गये थे और सैकड़ों वर्ष तक उर्दू कविता के आविर्भाव से पूर्व करोड़ों आदमी इस घुली-मिली भाषा को बोलते रहे हैं। उर्दू कविता ने लगभग साठ-सत्तर हज़ार शुद्ध हिंदी शब्दों में तीन हज़ार के लगभग अरबी-फ़ारसी शब्द जोड़ दिये हैं, जिन्हें पढ़कर सीखना पड़ता है। ऐसे शब्दों की पूर्ण संख्या तो नहीं किंतु एक बड़ी संख्या नीचे दी जाती है जिन्हें अनपढ़ बोलते हैं।

आदमी, मर्द, औरत, बच्चा, ज़मीन, काश्तकार, हवा, आसमान, गरम, सर्द, हालत, हाल, ख़राब, नेकी, बदी, दुश्मनी, दोस्ती, शर्म, दौलत, माल, मकान, दुकान, दरवाज़ा, सहन, बरामदा, ज़िन्दगी, मौत, तूफ़ान, सवाल, जवाब, बहस, तरफ़, तरफ़दारी, तरह, हैरान, बेहोश, होशियार, चालाक, सुस्त, तेज़, सवार, राह, शेर, मुहल्ला, क़िस्सा, ग़ुस्सा, ग़म, दर्द, ख़ुशी, आराम, किताब, हिसाब, ख़बरदार, बीमार, दवा, शीशा, आईना, प्याला, गुलाब, बाग़, बहार, मुरव्वत, मुहब्बत, सूरत, आबरू, हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान, सादा, दिल, दिमाग़, चेहरा, ख़ून, रग, शरारत, सलाम, रईस, रिआया, मालगुज़ारी, शोर, गुल, जमा, बाक़ी, ख़ैरियत, ख़बर, तकलीफ़, तक़ाजा, फ़ायदा, फ़क़ीर, फ़ौरन, बहाना, जादू, कबूतर, कमर, गरदन, आवाज़, ज़बान, ख़र्च, मैदान, वकील, पेशकार, अमीन, क़ानूनगो, तहसीलदार, बसूल, ख़िदमत, गुलाम, आज़ाद, रंगीन, नमक, मंज़ूर, नज़र, लगाम, चिराग़, तकिया, परदा, जगह, नज़दीक, दूर, क़रीब, ख़तरा, बयान, गुमान, दीवानख़ाना, मसनद, ज़ाहिर, कुश्ती, रोज़, ज़ोर, ताक़त, ख़ास, तूती, रौशनी, तरद्दुद, गिरानी, बुख़ार, हैज़ा, ताऊन, बदहज़्मी, हलवा, हलवाई, कागज़, लिफ़ाफ़ा, मोटर, नहर, शिकायत, ज़हर, वज़्न, आस्तीन, मालिक, जायदाद, महल, मुश्किल, मेहरबानी, ज़रा, कम, ज़ियादह, ताक़, हुक्म, अमल, फ़ुरसत, हिम्मत, बेहूदा, मंज़िल, इख़्तियार, ज़ुल्म, ज़िक्र, फ़िक्र, फ़साद, रज़ाई, रूमाल, बख़िया, रफ़ू, जहाज़, निशाना, तीर, कमान, सन्दूक़, बेवक़ूफ़, ख़ाली, ख़ारिज, कै, क़िस्म, पसन्द, क़र्ज़, क़ौल, फ़रार, फ़ौज, मुल्क, बादशाह, शहज़ादा, शादी, रोब, खुलासा, दग़ाबाज़, हरामज़ादा, नमकहलाल, फ़लाँ, वापसी, रुख़सती, तबादला, किनारा, बन्दगी, बरफ़ी, तमाशा, ख़्याल, याद, बारीक, शुरू, ख़त्म, अख़ीर, ख़ज़ाना, मेवा, शराब, अंगूर, बादाम, शगून, इन्कार, राज़ी, मेहतर, दरज़ी, चीज़, तश्तरी, बर्क़, वादा, नक़द, मोहलत, पान, ज़र्दा, सफ़र, लाश, कफ़न, दफ़न, मेहराब, बदतमीज़, सुर्ख़, मज़ा, हजामत, ख़ाक, बिस्तर, कुर्सी, दाग़, दाख़िल, सितार, तबला, जुलूस, जलसा, ज़माना, गिरफ़्तारी, इन्तेज़ार, मुख़्तार, लेकिन, क़िस्मत, मतलब, अगर, दुनिया, ग़ैर, दीवार, परवरिश, क़ाफ़िला, जारी, बुज़ुर्ग, तमाम, कुछ, मेहमान, मस्जिद, शौक़, बरकत, ग़रज़, बेकार, बला, आह, हाय, वाह, जहाँ, बेजा, हज़ार, तकरार, ग़ज़ब, कीना, सीना, वाक़िफ़, हस्ती, बुलबुल, हैसियत, शाम, सुबह, इक़बाल, इम्तहान, चमन, चाक़ू, उस्तरा, इलाज़, ख़ुद, असर, दौलत, इन्सान, क़दम, जर्राह, ख़ातिर, क़सूर, ख़फ़ा, माफ़ी, जान, शिकार, कमन्द, जुर्म, ख़िलाफ़, रहम, रस्म, क़ायदा, मज़दूर, बदन, नर्म, शौहर, बरात, बदहवास, नामुमकिन, देर, बरफ़, सरहद, नज़ला, पेशी, नुमाइश, हवाला, दरजा, साहब, ग़लत, सही, तबीयत, शायद, हमेशा, बराबर, ग़नीमत, शैतान, ताल्लुक, दफ़्तर, अफ़सर, सिलसिला, बाज़ार, मसाला, परवाह, जहन्नम, रुत्बा, ख़ौफ़, शानदार, साल, फ़र्क़, लुत्फ़, सितारा, परी, देव, मौसम, दरया, वारदात, आराज़ी, क़दर, चैन, कमाल, क़ुरबानी, पंजाब, इन्साफ़, जोश, बग़ल, बे, दावत, आराज़ी, मर्ज़, मरीज़,

बिस्तर, आबपाशी, आबकारी, सरकारी, हुजूर, उज़्रदारी, बन्दोबस्त, यार, रुक्क़ा, पर्चा, पुरज़ा, दारोग़ा, सन्दरी, बन्द, अख़बार, सिवा, बेशी, फौजदारी, दीवानी, लिहाज, ज़बरदस्ती, किराया, क़द्दू, मुरब्बा, अचार, ख़रबूज़ा, तरबूज़ा, सब्ज़ी, दाना, पेशवा, कारिन्दा, पैसा, पेंच, बाज़ी, प्यादा, वज़ीर, पोलाव, प्याज़, सुराही, क़यामत, दीवाल, नोक, तारीख़, ताश, तालाब, जाहिल, लायक, निहायत, क़ाबिल, परहेज़, बनफ़्शा, बेअदबी, तजुरबा, तै, गुज़र-बसर, माहवारी, मुर्दा, शरबत, राय, मज़बूत, कमज़ोर, कार्रवाई, खाना, परवाना, हाता, सुराग़, तनूख़्वाह, तरक़्क़ी, जुरमाना, अशरफ़ी, कैफ़ियत, फरेब, मल्लाह, नक़्ल, बुरादा, मुलाक़ात, असली, नक़ली, बुरी, रेहन, शमा, शमादान, तसला, सुरमा, रस्म व रिवाज, रफ़ा-दफ़ा, रिआयत, रसीद, ज़ंजीर, सिफ़ारिश, ज़नाना, सायत, गज़, ख़ेमा, शामियाना, सायबान, सिपाही, सुपुर्द, शुतुरमुर्ग़, शाल, दुशाला, क़तार, सजदा, बग़ावत, ग़द्दार, तूफ़ान, क़ीमा, रान, तैनात, मुसाफ़िर, करामात, मात, फ़ज़ीहत, कसर, कसरत, कश्मीर, क़ुलक़ुल, जोश, कूच, दामन, तौशक, सलाह, अन्दर, जिगर, दम, नाराज़, देहात, माजून, हलाल, हलालख़ोर, दवात, जिन, मालूम, मरदुमशुमारी, ज़ारबन्द, तंग, दिक़, गोश्त, लानत, मलामत, पैबंद, अमल, दस्तावेज़, मखमल, क़ालीन, फ़र्श, नाश्ता, रेशम, मुलायम, काफ़ी, ताकीद, रंज, क़िला, अफ़सोस, साज़, मज़ाक़, मुंशी, नीलाम, मुक़ाबला, मवक्किल, नीयत, अनार, इफ़रात, आतशबाज़ी, अमरूद, इनक़लाब, इन्तेज़ाम, बारूद, ख़िलाफ़, ग़िलाफ़, बाक़ी, बक़ाया, इजलास, नवइयत, मुआइना, आबला, एहतियात, इजाज़त, दाख़िल, ख़ारिज, जानवर, हैवान, जानदार, तोप, बन्दूक़, जालसाज़ी, अन्दाज़, रोज़गार, अलावा, जारी, मुजरिम, मुलज़िम, मालिश, मजाल, नदारद, ऐब, ख़ोंचा, ज़ुकाम, चासनी, बालाई, आमदनी, दस्तकारी, मीनाकारी, ख़ैरात, अजाबख़ाना, चरख़ा, जल्द, चौगान, मशहूर, ख़रगोश, तातील, वारिस, रियासत, हुक़्क़ा, फ़रशी, जू, कबाब, शोरबा, तराज़ू, हर्ज, अस्तर, इत्र, शकर, आबादी, मुहकमा, मुहताज, पौदा, निहाल, अरमान, मुराद, डफ़, अंजीर, हम्माम, पहलवान, क़लाबाज़ी, पोशाक, गोशवारा, क़त्ल, क़ाबिल, जहन्नम, तबाही, शफ़्तालू, शलजम, बेहतर, तौबा, नमाज़, ख़ैर, ख़ैरियत, दास्तान, अफ़साना, चोबदार, ख़िदमत, ख़िदमतगार, बुनियाद, आशिक़, माशूक़, महबूब, कमीना, ख़ौफ़, अदा, नाज़, पैमाना, वास्ता, सतर, निग़ाह, निगहबान, मामूली, एहसान, शुक्रिया, शामिल, जाहिल, सनद, साबित, सबूत, वजह, सबब, सुरख़ाब, खेज़ाब, अन्देशा, इनाम, ईमान, दीवान, फ़रियाद, पाबंद, पलंगपोश, मंसूबा।

विस्तार के भय से हम यही आठ-नौ सौ शब्दों की गणना कर रहे हैं। कितने अरबी-फ़ारसी शब्द हमारी बोली में आ चुके हैं, इसका अनुमान इसी बात से किया जा सकता है कि बच्चों के लिए जो संक्षिप्त शब्द कोश "बाल शब्दसागर" के नाम से कई वर्ष पूर्व हिंदी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार एवं समालोचक बाबू श्यामसुन्दर दास ने प्रकाशित किया था, उसमें लगभग चार-पाँच हज़ार अरबी-फ़ारसी शब्द सम्मिलित हैं। बाहर से आकर हिन्दुस्तान में बस जाने वाले मुसलमानों ने सत्तर-अस्सी हज़ार शुद्ध हिन्दू शब्द, हिन्दी मुहावरे, हिन्दी कहावतें, टकसाली हिन्दी के टुकड़े अपना लिये और टकसाली हिन्दी के व्याकरण को भी अपना लिया जो शताब्दियों के मेल-जोल से टकसाली हिन्दी का अंश बन चुके थे। इसी मिलीजुली हिन्दी का नाम बाद को उर्दू पड़ गया। उर्दू शब्द शाहजहाँ के काल में पहले-पहल फ़ौज के लिए प्रयोग किया गया था। मुग़ल फ़ौज का नाम था उर्दू-ए-मोअल्ला अर्थात् महान् सेना। इस फ़ौज के साथ बहुत बड़ा बाजार था जो उर्दू बाज़ार (फ़ौजी बाज़ार) कहलाता था। इस बाज़ार का अस्सी-नब्बे प्रतिशत व्यापार हिन्दुओं के हाथ में था। अधिकांश मंडियाँ, आढ़तें और दुकानें हिन्दू महाजनों की थीं। वस्तुओं के क्रय-विक्रय के साथ शब्दों का लेन-देन भी शुरू हो गया और इसी तरह मुसलमानों ने सत्तर-अस्सी हजार शुद्ध हिन्दी शब्द और हिन्दी भाषा के समस्त टुकड़े और नियमावली अंगीकार कर ली।

शहर की बोली की नोक-पलक दुरुस्त करने में धर्म और शिक्षित वर्ग का बड़ा हाथ होता है। चूँकि मिली-जुली हिन्दी अर्थात् उर्दू, अब दिल्ली शहर और बाद को दूसरे शहरों और क़स्बों की बोली बनी गयी और इस बोली को रचने और सँवारने में उन मुसलमान घरानों की सेवाएँ प्राप्त हुईं जिनमें पुरुष और स्त्री सभी पढ़े-लिखे होते थे और जो गँवारपन का भी शिकार नहीं हो सकते थे। केवल वे ही अरबी-फ़ारसी शब्द मिली-जुली हिन्दी में आये जिनसे कान के परदों को ठेस न लगे। इन घरानों ने उर्दू को न गँवारों की भाषा बनने दिया और न मौलवियों की ही भाषा। पढ़े-लिखे सभ्य मुसलमान घराने जनसाधारण से अलग या कटे-कटे नहीं रह सकते थे। बोली के विषय में जनसाधारण के समीप ही रहे होंगे। बोली के सम्बन्ध में दिल्ली की या जहाँ-जहाँ दिल्ली की बोली पहुँच चुकी है वहाँ की ज़िन्दगी को टुकड़े-टुकड़े नहीं होने दिया गया। अवश्य ही यह ज़िन्दगी बोली के मामले में टुकड़े-टुकड़े हो जाती अगर ये मुसलमान घराने एक ओर से देहातीपन या गँवारपन को न रोकते और दूसरी तरफ़ हिन्दी से ताल-मेल न खाने वाले बड़े-बड़े मोटे-मोटे उन अरबी-फ़ारसी शब्दों को हिन्दी में ठूँसते जो हिन्दी के गले में शुष्क निवाले की तरह अटक कर रह जाते। इन मुसलमान घरानों ने ज़बरदस्ती या धाँधली से अंधाधुंध अरबी-फ़ारसी शब्दों को अपनी हिन्दी में फटकने न दिया होगा। इन्हें उस भाषा को परवान चढ़ाना था जो जनसाधारण की भाषा थी। लीजिए, लगे हाथों इस बात का भी जवाब मिल गया कि उर्दू में अरबी-फ़ारसी शब्दों का बाहुल्य क्यों

नहीं होती है। उर्दू का वह भाग जिसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों की बहुतायत होती है, उर्दू साहित्य का एक बटे सौ भाग है। बोल-चाल के रूप में उर्दू भाषा शताब्दियों तक साँचे में ढलती रही, तब कहीं जाकर उर्दू में पहला शेर कहा गया और उर्दू कविता में लोगों ने अपनी बोली की गूँज और झन्कार सुनी। वातावरण और हृदयों का सन्नाटा दूर हो गया। घर-बार और बाज़ार की भाषा ने कविता की देवी का रूप धारण कर लिया।

हाँ, तो अरबी-फ़ारसी के वे ही दो-चार हज़ार शब्द उर्दू में सम्मिलित किये गये जिनकी बनावट और जिनका रूप-रंग और जिनकी आवाज़ पचासों हज़ार शुद्ध हिन्दी शब्दों से मिलती थी। शुद्ध हिन्दी का एक शब्द ऐसा नहीं होता जिसमें हर अक्षर की पूरी और अलग आवाज़ सुनाई दे। इसी तरह की ध्वनि वाले अरबी-फ़ारसी शब्द उर्दू में अपनाये गये।

दिल्ली में उर्दू साहित्य के जन्म लेने से पूर्व जो भाषा प्रचलित थी, उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द शुद्ध हिन्दी शब्दों से इस तरह घुल-मिलकर ज़बानों पर चढ़ गये थे कि उन्हें एक-दूसरों से अलग किया ही नहीं जा सकता था। बहुत-से अरबी-फ़ारसी शब्द तो ऐसे थे जिनके कई-कई मतलब होते थे। ये शब्द टकसाली बोली और मुहावरों की जान थे। उदाहरणस्वरूप "साफ़" शब्द ले लीजिए और इसके रंगारंग प्रयोग देखिए

(1) तुमने बात समझा दी मेरा दिल साफ़ हो गया।
(2) उसने रुपया देने से साफ़ इन्कार कर दिया।
(3) रामचन्द्र की लिखावट बहुत साफ़ है।
(4) तुम्हारा लिखा हुआ मुझसे साफ़ नहीं पढ़ा जाता।
(5) साफ़-साफ़ बताओ, तुम क्या चाहते हो।
(6) जादूगर के हाथ की सफ़ाई देखने के क़ाबिल है।
(7) मोटेमल पाँच सेर खाना साफ़ कर गये।
(8) सफ़ाई के गवाह कल पेश होंगे।
(9) मेरा हिसाब साफ़ हो गया।
(10) दाग़ का मिसरा है "साफ़ छुपते भी नहीं, सामने आते भी नहीं।"
(11) साफ़ बात तो यह है।
(12) उनकी नीयत साफ़ नहीं है।
(13) थोड़ा दो गज़ की टट्टी साफ़ कूद गया।
(14) एक बार मैं अपने एक मुसलमान दोस्त की दावत में शरीक था। वे चमचे से खा रहे थे, मैं हाथ से। जब मिठाई आयी तो मुझे हाथ धोने के लिए उठना पड़ा और मैंने उनसे कहा, भाई तुम्हारे हाथ तो साफ़ हैं। उन्होंने कहा, हाथ भी साफ़ हैं और दिल भी साफ़ है। मैंने कहा, जी हाँ, हाथ भी साफ़ हैं, दिल भी साफ़ है और दिमाग़ भी साफ़ है।

"ख़राब" शब्द लीजिए और उसके भिन्न-भिन्न प्रयोग देखिए

(1) बड़ा ख़राब आदमी है।
(2) सैकड़ों आदमियों की दावत थी और आये कुल दस-बारह आदमी। बहुत-सा ख़ाना ख़राब हो गया।
(3) खाने के सजे-सजाये थाल में छिपकली गिर पड़ी। कुल खाना ख़राब हो गया।
(4) बुख़ार में मुँह का मज़ा ख़राब हो जाता है।
(5) वह कीचड़ में गिर पड़ा और उसके कुल कपड़े ख़राब हो गये।
(6) वह लड़कपन से ही ख़राब संगत में पड़ गया था।
(7) हमारा वक़्त ख़राब न कीजिए।
(8) वकील की ग़लत बहस से हमारा मुक़दमा ख़राब हो गया।
(9) हाकिम ने बड़ा ख़राब फैसला दिया है।
(10) उसके इम्तहान का नतीजा बड़ा ख़राब निकला।
(11) यहाँ की जलवायु ख़राब है।
(12) तुम खुद भी ख़राब हो और दूसरों को भी ख़राब करोगे।
(13) उर्दू का प्रसिद्ध शेर है–

यह जो चश्म-पुरआब हैं दोनों,
एक ख़ाना ख़राब हैं दोनों।

"ग़ज़ब"--
(1) ग़ज़ब की तक़रीर थी।
(2) ग़ज़ब की आँख तो है उलफ़त की नज़र न सही।
(3) आप क्या ग़ज़ब ढा रहे हैं।
(4) ऐसा कीजियेगा तो ग़ज़ब हो जायेगा।
(5) खुदा का ग़ज़ब है।
(6) ग़ज़ब का सैलाब आया।
(7) यह क्या ग़ज़ब है !

"रंग"--(1) रंग लाना; (2) रंग उड़ाना; (3) रंग जमाना; (4) रंग बांधना; (5) रंग पकड़ना; (6) रंग बदलना; (7) रंग चमकाना; (8) रंगे-तबीयत; (9) रंग-ए-महफ़िल; (10) यह शेर ग़ालिब के रंग में है; (11) रंग-ढंग; (12) रंग मलना; (13) रंग खेलना; (14) रंग उछालना।

"नाम"--(यह शब्द संस्कृत भी है और फ़ारसी भी)

(1) नाम रखना; (2) नाम उछालना; (3) नाम कमाना; (4) नाम करना; (5) नाम लेना; (6) नामी गरामी; (7) नाम से काँपना; (8) क्या नाम कि; (9) नाम बनाम; (10) बराये नाम; (11) नाम-वाला; (12) नाम चमकना; (13) नाम तक न लेना; (14) नाम-ए-खुदा।

"दाम"--(1) दाम लगना; (2) दाम उठना; (3) दाम बढ़ना

या घटना; (4) दाम चढ़ना; (5) दाम उतरना; (6) दाम के दाम; (7) दाम वसूलना; (8) मुनाफ़ा तो नहीं हुआ लेकिन दाम के दाम निकल आये; (9) दाम लिखा हुआ है; (10) दाम बहुत देने पड़े; (11) आम के आम गुठलियों के दाम; (12) दाम गिरना; (13) दाम मारना; (14) बे-दामों मोल ले लेना।

यह हाल तो सिर्फ छः शब्दों का है जिनके इतने प्रयोग गिनवाये गये हैं। अगर इन अरबी-फ़ारसी शब्दों को हम अपनी बोली से निकाल दें तो इन थोड़े-से शब्दों के स्थान पर अनेक शब्द गढ़ने पड़ेंगे और हमारी बोली बिगड़ कर रह जायेगी। इसी तरह कई सौ और भी अरबी-फ़ारसी के शब्द हैं जो हमारी बोली में खप चुके हैं। अगर हम अरबी-फारसी के ऐसे सब शब्द निकाल दें तो हमें हज़ारों शब्द गढ़ने पड़ेंगे और बोली का मज़ा भी जाता रहेगा। बात बनने के बदले बिगड़ जायेगी। हम ज़बान के कुछ ऐसे टुकड़ों की फ़िहरिस्त नीचे दे रहे हैं जिनमें एक शब्द अरबी-फ़ारसी का है और दूसरा या तो शुद्ध हिन्दी का शब्द है या संस्कृत का। उर्दू कविता अभी आरम्भ नहीं हुई थी और उससे कई सौ बरस पहले से आज तक ये टुकड़े हिन्दी भाषा-भाषियों की ज़बान पर चढ़े हुए हैं।

शादी-ब्याह, हँसी-खुशी, हित-मुद्दई, खोज़-ख़बर, गाँठ-गिरह, रंग-रूप, रंग-पानी, रंग-ढंग, राग-रंग, धन-दौलत, गाली-गुफ़्तार, हँसी-मज़ाक, इज़्ज़त-पानी, बाल-बच्चे, क़िस्सा-कहानी, हल्वा-पूरी, देर-सबेर, सुबह-सबेरे, काग़ज़-पत्तर, जी-जान, नाक-नक़शा, नोंक-झोंक, नोक-पलक, दंगा-फ़साद, हाट-बाज़ार, चोली-दामन, लाज-शरम, पट्टीदार-पहरेदार, थानेदार, जगत-उस्ताद, पूजा-नमाज़, दीन-धरम, बे-लाग, बे-धड़क, बे-सुध, बे-भाव, खुले-बन्दी, धोके-बाज़, मिठाई-नमकीन, सूद-ब्याज, पीक-दान, सिंगार-दान, चादर-दोपट्टा, चोर बाज़ार, गिरह-कट, बैठक-बाज़, दम-भर, बे-धरम, दान-ख़ैरात, जोड़ा-जामा, नशा-पानी, राम-रहीम, साधू-फ़क़ीर, नाश्ता-पानी, तिड़ी-बाज़, छीना-झपटी, मूल-दाम, रोब-दाब, नौकर-मालिक, नफ़ा-घाटा, खुले-आम, दरिया-पहाड़, साधू-बाबा, बू-बास, बालबीका, चौराहा, बनियां-बक़्क़ाल, सादा कपड़ा, सीधा-सादा, बस-एख़्तियार, ज़ोर-बस, राह-बाट, लालपरी, जोड़ा-जामा, सोहबत-संगत, शर्बत-पानी, दाना-पानी, हुसेन-सागर, अलीगढ़, मुज़फ़्फ़रनगर, अलीनगर, मछलीशहर, छतरमंज़िल, मोतीमहल, मरहम-पट्टी, पागलख़ाना, चिड़ियाख़ाना, फटेहालों, अन्दर-बाहर, परमासा, खेल-तमाशा, हाल-चाल, ख़ाँसी-ज़ुकाम, आदमी-जन, अच्छा-ख़राब, राज-महल, खुले-ख़ज़ाने, मोम-बत्ती, आराइश, शुभ-सायत, नेक-महूरत, घोड़-सवार, पट्टे-बाज़, मोटा-महीन, बारीक-चावल, जूती-पैज़ार, सरपंच, तीन-चार, दलबंदी, हज़ार बरस।

निम्नलिखित फ़िक़रों, मिसरों, मुहावरों, और शेरों में अरबी-फ़ारसी के साथ हिन्दी शब्दों का मेल ध्यान देने के योग्य हैं--

एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाना, ख़ून-पसीना एक करना, ख़ून होना, ख़ून करना, ख़ूबी, दिल को दिल से राह होती है, दिल से उतर जाना, दिल में घर करना, दिल आ जाना, जान का जंजाल, दिल भर आना, बड़ी मुसीबत है, बड़ी मुश्किल है, शामत आयी हुई है, ख़ुदा ख़ैर करे, जवान-जहान, मान न मान मैं तेरा मेहमान, अब आप चलते-फिरते नज़र आइए, होश की दवा करो, जवानी दीवानी, जो शरारत करेगा उसकी ख़ूब ख़बर ली जायेगी, ख़ाक में मिलाना, नयी जवानी मांझा ढीला।

मिसरे--ख़ाब था जो कुछ कि देखा, जो सुना अफ़साना था--
तबीयत उधर नहीं जाती, (ग़ालिब)

दो चार शेर भी मुलाहिज़ा हो--

मिटा मिटा के मुझे ख़ाक में मिला दोगे।
ख़ुदा जो पूछेगा इसका जवाब क्या दोगे।।
सड़क पे सुरखी कुटती देखी।
मुफ़्त की दौलत लुटती देखी।।
हमारी तरफ़ अब वह कम देखते हैं।
वह नज़रें नहीं जिनको हम देखते हैं।।
ज़माने के हाथों से चारा नहीं है।
ज़माना हमारा तुम्हारा नहीं है।।

इसी तरह के हज़ारों फ़िक़रे और जुमले हमारी भाषा में ऐसे हैं जिनमें से हम अरबी-फ़ारसी शब्द निकालें तो हमारी बोली बिगड़ जायेगी। जैसे राह फ़ारसी का शब्द है, इसे अगर हम अपनी भाषा से निकाल दें तो हम यह नहीं बोल सकते--राह पर लगना, राह पर लाना, अपनी राह लगो, राह या रास्ता लेना, राह कठिन है, राह चलते दिल में राह करना, राह में काँटे बिछाना, राह देखना, राह भूलना, राह न चलना, राह पाना, राह या रास्ता देना, राह छोड़ना, इधर राह कैसे भूल बैठे?

कुछ और वाक्यों में से अरबी-फ़ारसी शब्द अगर हम निकाल लेना चाहें तो हमारी बोली का बुरा होगा।

(1) दिल ने दुनियाँ नयी बसा डाली, और हमें आज तक ख़बर न हुई; (2) तुम्हें कुछ खबर भी है; (3) भाई, खूब आये; (4) वह जो क़ाबू में ही नहीं आये; (5) आज बाज़ार बंद है; (6) खुलता किसी पे क्यों मेरे दिल का मोआमला; (7) शेरों के इन्तख़ाब ने रुसवा किया मुझे; (8) मुझ पर रोब न जमाइए; (9) मैं उनके रोब में आ गया; (10) मेरा बच्चा बीमार है; (11) होश की दवा करो; (12) चुग़ली खाना बहुत बुरी बात है; (13) जी जान से कोशिश करो; (14) खैर, देखा जायेगा; (15) आजकल वह मुझ पर बहुत मेहरबान है; (16) आप अजब आदमी हैं; (17) हँसी-खुशी ज़िन्दगी काट दो; (18) ख़रबूज़े से ख़रबूज़ा रंग पकड़ता है; (19) किफ़ायत करना सीखो; (20) तुम हज़ार मना करो, वह अपनी आदत से बाज़ नहीं आयेगा;

(21) दीवार पर सफ़ेदी फेरी जा रही है; (22) यह आदमी सियाह-सफ़ेद का मालिक है; (23) मैदान साफ़ है; (24) यह लड़का हमारे घर का चिराग़ है; (25) दवा पी लो; (26) इलाज करवाओ; (27) नाखून कटवा लो; (28) मेरा बड़ा हर्ज हुआ; (29) यह नया हुक्म जारी हुआ है; (30) शोर मत मचाओ; (31) मुझे मालूम नहीं; (32) अब उसका ब्याह कर दो; (33) बड़ी बदनामी हुई; (34) खर्च कम करो; (35) हैसियत बिगड़ गयी।

अब से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व दिल्ली और लखनऊ में जब उर्दू कविता बढ़ी तो बाढ़ की तरह बढ़ी क्योंकि इस कविता में जन-भाषा के हज़ारों ऐसे टुकड़े हैं जो करोड़ों व्यक्तियों की जिह्वा पर अकबर के समय से ही चढ़े हुए थे। उर्दू कविता ने हिंदी के एक शब्द का भी परित्याग नहीं किया और अरबी-फ़ारसी से अधिक से अधिक ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जो ज़बानों पर चढ़ चुके थे। अपने जन्म दिन से ही उर्दू कविता की लोक-प्रियता का यही कारण है। दो-तीन सौ बरस तक यही अरबी-फ़ारसी शब्द सिर्फ हमारी बोली में काम आ चुके हैं। घर की बोली, बाज़ार की बोली, हिन्दू-मुसलमान के आपस की बोली, कारोबार की बोली, हर प्रकार और हर भाँति की बोली में जब हिन्दी शब्दों और मुहावरों के साथ यह अरबी-फ़ारसी शब्द शेर के साँचों में ढलने लगते हैं तो सुनने वाले फड़क जाते हैं और ऐसा महसूस करते हैं कि ग़ालिब के शब्दों में--

वाह री तक़दीर की ख़ूबी कि जो उसने कहा,
मैंने यह जाना कि गोया यह भी मेरे दिल में है।

किन्तु यह समझना भ्रम होगा कि हिन्दी शब्दों में केवल अरबी और फ़ारसी शब्दों को मिला देने से उर्दू बनी है। शत-प्रतिशत हिन्दी शब्दों से भी बनी हुई उर्दू गद्य और कविता की किताबें मिलती हैं। इन किताबों में एक भी अरबी-फ़ारसी का शब्द नहीं है। वस्तुतः खड़ी बोली हिन्दी को एक विशेष ढंग से या एक विशेष शैली में प्रयोग करना उर्दू है जो निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा।

थमते थमते थमेंगे आँसू.....रोना है ये कुछ हँसी नहीं है।
(मुसहफ़ी)

तारा टूटते सबने देखा यह नहिं देखा एक ने भी।
किसकी आँख से आँसू टपका किसका सहारा टूट गया।।
(आरज़ू लखनवी)

खिसियानी हँसी हँसना एक बात बनाना है।
टपके हुए आँसू को पलकों से उठाना है।।
(आरज़ू लखनवी)

मेरे होते हुए औरों को इतना सताया जायेगा।
यह तो मुझसे देखती आँखों न देखा जायेगा।।

बदनचोर चित्‌चोर तो थे ही क्या तुम समयचोर भी हो।
यह तो बताओ लिये जाते हो साथ अपने यह रात कहाँ
झिल-मिल, झिल-मिल तारों ने भी पायल की झनकार सुनी थी,
चली गयी कल छमछम करती पिया मिलन की रात कहाँ।

प्रेम पुजारी नेम धरम से जीना था,
तोड़ दिया हर संजम तुझको क्या सूझी।
छिड़ गयी उन आँखों की बात,
दुनियाँ में अब दिन है कि रात।

ये पाँचों शेर मेरे हैं।

बिगड़े न बात बात पर क्यों जानते हैं वो,
हम वो नहीं कि जिसको मनाया न जायेगा।–(हाली)

वह नहीं भूलता जहाँ जाऊँ-हाय मैं क्या करूँ कहाँ जाऊँ
(नासिख़)

बात भी पूछी न जायेगी जहाँ जायेंगे हम,
तेरी चौखट से अगर उट्ठे कहाँ जायेंगे हम।।
(मशहर लखनवी)

रात चली है जोगन होकर--ओंस से अपने मुँह को धोकर,
लट छिटकाये बाल सँवारे--मेरे काली-कमलीवाले।
(शाद अज़ीमाबादी)

यह जो महंत बैठे हैं दुर्गा के कुण्ड पर,
अवतार बन के कूदेंगे परियों के झुण्ड पर।–(इंशा)

बोझ वो सर से गिरा है कि उठाये न उठे।
काम वह आन पड़ा है कि बनाये न बने।।--(गालिब)

किस तरह बन में आँख के तारे को भेज दूँ।
जोगी बना के राजदुलारे को भेज दूँ।।--(चकबस्त)

तेरी चाल टेढ़ी तेरी बात उल्टी,
तुझे मीर समझा है यां कम कसू ने।
(मीर तक़ी 'मीर')

मुँह से निकली हुई पराई बात--(आतश)
हो गयी एक-एक घड़ी तुझ बिन पहाड़--(हाली)
क्या बने बात जहाँ बात बनाये न बने--(ग़ालिब)
रात गये सुला दिया रात रहे जगा दिया--(जिगर)
कभी कुछ रात गये और कभी कुछ रात रहे--(रियाज़ खैराबादी)
सुहाग हिन्द का तेरी चिता में जलता है--(चकबस्त)
अंधे को अँधेर में बड़ी दूर की सूझी--(इंशा)
उन्हें चाहा न पाया अब किसी को और क्या चाहें
--(जगत मोहनलाल रवाँ)
झोंके खाने सँभलते रहने के सिवा--(यास यगाना)
कुछ तो कहिए कि लोग कहते हैं--(ग़ालिब)
ऐसा भी कोई है कि सब अच्छा कहें जिसे--(ग़ालिब)
इधर चमकी उधर सुलगी यहाँ फूँका वहाँ फूँका--(दाग़)
घर जला सामने पर मुझसे बुझाया न गया--(मीर)

भरे हैं आँख में आँसू उदास बैठे हो--(तअश्शुक़ लखनवी)
सब ठाट पड़ा रह जायेगा जब लाद चलेगा बंजारा--(नज़ीर)
मेरा एक मिसरा है--
थके-थके से ये तारे थकी-थकी सी ये रात।

अब गद्य की ऐसी पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं जिनमें एक भी फ़ारसी शब्द नहीं है--

(1) चाँदनी खेत कर आयी; (2) लड़ाई में सैकड़ों लोग काम आये; (3) देखना भाई यह छेड़छाड़ अच्छी नहीं; (4) हाथ पर हाथ धरे बैठे हो; (5) बातें बनाने से बात नहीं बनेगी; (6) बात से बात निकलती है; (7) काम में काम किये जाओ; (8) दिन को दिन न समझो, रात को रात न समझो; (9) दिन डूब चला था; (10) रातों रात धावा बोल दिया; (11) मुझे तुमने कहीं का न रक्खा; (12) आज से मुझे कान हो गये; (13) मैंने बड़े बड़ों की आँखें देखी हैं।

ये बहुत थोड़े से उदाहरण हैं और ऐसे बीसों हज़ार उदाहरण दिये जा सकते हैं जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी शब्दों को एक विशेष ढंग से बोलने या लिखने का नाम उर्दू है। यह ढंग या शैली ही उर्दू भाषा की आधार-शिला है। यही वह ढंग है जिसे हम उर्दू का साँचा कह सकते हैं।

दिल्ली में जो खड़ी बोली शहंशाह अकबर के समय से बोली जा रही थी, उसे पढ़े-लिखे मुसलमान घरानों में सँवारा और रचाया जा रहा था और इन्हीं घरानों में उर्दू ने जन्म लिया और फिर औरंगज़ेब के बाद यह बोली कविता के साँचे में ढलती शहरों-शहरों और कस्बों में फैल गयी और पिछले दो सौ बरसों में कई हज़ार हिन्दुओं और मुसलमानों ने उस ज़बान को रचाने और सँवारने में एक-दूसरे का हाथ बँटाया।

अब हम उन सांस्कृतिक मूल्यों पर दृष्टिपात करेंगे जो उर्दू कविता और गद्य ने हमें दिये।

साहित्य एक महान् कला है। कला का गुण यह है कि वह हमारी चेतना और मस्तिष्क को इस प्रकार जागरूक कर दे कि संसार की हर वस्तु, हर दृश्य, हर घटना सुन्दर दिखाई पड़ने लगे और हमें उससे प्रेम हो जाये। उर्दू कविता ने हमारे मस्तिष्क तथा हमारे चरित्र और हमारे विचार को सँवारने और रचाने में बड़ा हिस्सा लिया है। संकीर्ण विचार और कट्टरपन और वे सारी भावनाएँ जो मनुष्य और मनुष्य के बीच में एक खाई खोदती है--इनको हटाने और मिटाने में उर्दू साहित्य ने बड़ा काम किया। जिस तरह कबीर साहब ने राम और रहीम को एक बताया, उसी तरह उर्दू शायरी ने कुफ़्र और इस्लाम के भेद को मिटाकर रख दिया। उर्दू कविता की दूसरी देन जीवन के प्रति आकर्षण पैदा करना है। मानव में जो निर्बलता है, उर्दू शायरी हमारे दिलों में उसके लिए दया और सहानुभूति की भावना पैदा करती है। वाइज़, शेख़ और अन्य धार्मिक आडम्बरों का उर्दू कविता ने सदैव मज़ाक उड़ाया है। ऐसे बहुत-से धार्मिक कठमुल्ले शारीरिक सुखों और भोग-विलास को और मानव प्रकृति को समझे बिना ही गुनाह कह दिया करते हैं। उर्दू कविता हमें बताती है कि नेकी और शराफ़त का यह तक़ाजा नहीं है कि आदमी हर प्रकार का सुख अपने ऊपर हराम कर ले। इसीलिए हज़ारों शेरों में यह कहा गया है कि जिन चीज़ों को कुफ़्र व गुनाह कहा जाता है वे चीज़ें भी जीवन को सँवारती हैं क्योंकि उर्दू शायरी में कुफ़्र व गुनाह का अर्थ है, दुनिया और जीवन से प्यार। माया को सत्य तक पहुँचने का साधन माना गया है। उर्दू काव्य में सबसे बड़ा स्थान प्रेम को दिया गया है। वासना को बहुत बुरा बताया गया है, लेकिन प्रेम को बहुत अच्छा बताया गया है। प्रेम प्रारंभ होता है किसी रंग-रूप या किसी व्यक्तित्व पर मोहित हो जाने से। अगर इस भाव में दृढ़ता और आत्म-शुद्धि नहीं है, तब यह भाव वासना है लेकिन अगर दृढ़ता और आत्म-शुद्धि है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि शारीरिक सुख प्राप्त करने के बाद भी प्रिय की कल्पना हृदय और मस्तिष्क पर छायी रहेगी। धीरे-धीरे प्रिय की प्रिय कल्पना उन्नत होती जायगी। जीवन और सौन्दर्य सृष्टि की कल्पना में परिणत हो जायेंगे और इस तरह एक व्यक्ति से प्रेम करके हम सृष्टि से प्रेम करना समझते हैं। फिर यह भाव अस्तित्व की तल्लीनता और उस बुनियादी सत्य की चेतना को हमारे अन्दर पैदा कर देगा जिससे हम भौतिक संसार और भौतिक जीवन को दिल समझने लगते हैं। यह सब प्रेम का ही प्रभाव है। इस आख़िरी मंज़िल पर पहुँच कर हम तसव्वुफ़ के उस रहस्य का अनुभव करते हैं जिससे उर्दू कविता मालामाल है।

उर्दू कविता और भाषा हमें अपने जीवन में हृदय-ग्राहिता, रहन-सहन की सुन्दर शैली और सुरुचि उत्पन्न करती है। इस प्रकार हमारे जीवन में नागरिकता को स्थान मिलता है। जब तक मुद्रण-यंत्र का आविष्कार नहीं हुआ था, उर्दू कविता को सुनने-सुनाने की प्रथा बहुत थी। विशेषतया कसबों या शहरों में आये दिन मुशायरे या शादी की सोहबतें होती रहती थीं। इन मुशायरों में उठने-बैठने के अपने नियम और अपने ढंग होते थे, दाद देने के भी ढंग थे, कविता में दोष या अशुद्धि निकालने के भी ढंग थे। इस प्रकार मस्तिष्क इतना तेज़ हो जाता था कि हाज़िर जवाबी और नोंक-झोंक के फूल बरसने लगते थे। उर्दू शायरी ने हज़ारों लतीफ़ों को जन्म दिया। फ़िक़रा बनाने या चुस्त करने के सैकड़ों तरीक़े हमें बताये। बातचीत का वह गुर उर्दू कविता ने हमें बताया कि कहने वाले और सुनने वाले दोनों फड़क उठे। भाषा और वर्णन में रवानी, मौक़े के हिसाब से उचित शब्दों का चयन, इन सारी चीज़ों का वर्णन उर्दू शायरी में प्रचुर भाषा में मिलता है। साधारण से साधारण शब्दों में उर्दू का कवि जादू भर देता है। एक ऐसे शब्द में जिसे हम एक बूँद के बराबर कह सकते हैं कवि उसमें अथाह और अपरम्पार सागर भर देता है। कबीर की उल्टवासियां

प्रसिद्ध हैं। उर्दू कवियों ने भी उल्टवासियों की सहायता से परम सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न किया है। उर्दू कविता ने हमारे नागरिक जीवन के सैकड़ों वर्षों की सभ्यता को सैकड़ों कोणों से आइना दिखाया है। उर्दू कविता अंग्रेजी राज्य स्थापित होने के बाद तेज़ी से परिवर्तन होने वाले समय का बराबर साथ देती रही। उर्दू काव्य सन् 1857 के बाद से ही पाश्चात्य साहित्य से पर्याप्त प्रभावित होता रहा। इस प्रकार उर्दू का कार्यक्षेत्र काफी बढ़ता रहा। कविता के नये विषयों का चुनाव हुआ। पुरानी उर्दू कविता में प्रकृति-वर्णन पर कम ध्यान दिया गया था। मगर इधर की साठ-सत्तर वर्ष की उर्दू कविता में प्रकृति-वर्णन पर विशेष ध्यान दिया गया। प्रकृति-वर्णन पर उर्दू में बहुत सराहनीय कार्य होता रहा। देश-प्रेम और स्वतंत्रता-प्रेम ने उर्दू कवियों से अमर कृतियाँ और अमर कविताएँ कहला डालीं।

उर्दू में स्वतंत्र छंद और मुक्त छंद बीसवीं शताब्दी में प्रारंभ होते हैं और अब इस प्रकार की कविता बहुत आगे बढ़ गयी है। इसी युग में उर्दू रुबाई भी काफी आगे बढ़ गयी। इसी युग में एक और महान् कार्य यह हुआ कि आरजू लखनवी और कुछ उनके समकालीनों ने कुछ नये प्रयोग किये। उन्होंने कविता में ठेठ हिन्दी के शब्दों और मुहावरों से ही काम लिया और एक भी अरबी-फ़ारसी शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ। व्यंग्य काव्य भी इसी युग में अच्छी तरह पनपा। इसी युग में अनुवाद का काम भी अधिक मात्रा में हुआ। संस्कृत और दूसरी भाषाओं की कविताओं और नाटकों का अनुवाद बड़े ही सुन्दर ढंग से उर्दू में हुआ।

भारतवर्ष की हर भाषा का गद्य साहित्य मुद्रण-यंत्र के आविष्कार होने के बाद बहुत उन्नत होता गया। संसार भर को गद्य का सबसे शानदार नमूना ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने दिया। यूनानी अन्य गद्य लेखकों ने भी बहुत सुन्दर गद्य की रचना की। यूनानी भाषा के गद्य के पश्चात् लैटिन भाषा के लिखने वाले ने भी यूनानी गद्य से गद्य लिखना सीखा। जब अरब वालों ने यूनान और यूरोप के दूसरे देशों को जीता तो सैकड़ों यूनानी और लैटिन किताबों का अनुवाद अरबी ज़बान में किया और इस प्रकार अरबी भाषा में बहुत बड़े गद्य-साहित्य का आविर्भाव हुआ। ईरानवालों ने यूनानी, लैटिन और अरबी से गद्य की हज़ारों पुस्तकों का अनुवाद फ़ारसी गद्य में किया। इस तरह फ़ारसी गद्य भी बहुत समृद्धिशाली हो गया। हिन्दुस्तान में संस्कृत भाषा में गद्य की पुस्तकें अवश्य हैं, लेकिन वे अधिक नहीं हैं। यही दशा पाली गद्य की भी है। साहित्यिक दृष्टिकोण से अबुलफ़जल की आईनेअकबरी बहुत महत्वपूर्ण किताब है। बाबरनामा की गद्य-शैली भी बहुत सुन्दर है। इसके अतिरिक्त चूँकि मुसलमानों का सारा शासन-सम्बन्धी कार्य फ़ारसी में होता रहा, इसलिए फ़ारसी गद्य में बहुत काम हुआ और यह भाषा काफ़ी फैलती रही।

प्रारंभ से लेकर आज तक की उर्दू कविता, गद्य की रामकहानी अब समाप्त होती है। यह न भूलना चाहिए कि समृद्धिशाली और उन्नत देशों के समकक्ष में एशिया एक पिछड़ा हुआ महाद्वीप रहा है। यूरोप और अमरीका व्यापार और उद्योग में एशिया से बहुत आगे रहे हैं। इन देशों का साहित्य भी बड़ा समृद्धिशाली रहा है। इंगलिस्तान के एक बहुत बड़े शायर ने लिखा था कि यूरोप के पचास साल चीन के एक पूरे युग से अधिक बेहतर, भरपूर और उन्नतिशील हैं। शताब्दियों के स्वप्न के बाद अब एशिया की नींद टूटी है और अब अफ्रीका की नींद भी टूट चुकी है। पराधीनता के बावजूद हिन्दुस्तान की भाषाएँ और उनका साहित्य काफ़ी आगे बढ़ा है और अब तो बढ़ता ही जा रहा है। हिन्दुस्तान की अन्य भाषाएँ और उर्दू का महत्व अब दर्शनीय होगा जब भारत का जीवन हर दृष्टिकोण से समृद्धिशाली हो जायेगा। हमारा सामाजिक, नागरिक और राजीनतिक जीवन भाषा की उन्नति पर ही अवलम्बित है। साहित्य न तो शून्य में तरक्क़ी करता है और न तो जीवन के अन्य अंगों के निर्बल होने से ही उन्नति करता है। 43, 44 करोड़ जनसमुदाय के जीवन के उन्नतिशील होने पर ही भारतीय भाषाएँ तरक्क़ी कर सकती हैं। यूरोप, अमरीका या संसार के अन्य देशों की पराधीनता हमारे लिए विष है। पाश्चात्य देशों के साहित्य से घृणा करके हम बड़ा साहित्य पैदा नहीं कर सकते। भविष्य में तभी बड़ा साहित्य पैदा हो सकता है, जब हमारे चोटी के लेखक अधिक अंश तक पश्चिमी साहित्य का अध्ययन करें। एक ओर हमें वेदों से लेकर आज तक की सांस्कृतिक निधियों को अपनाना होगा और दूसरी ओर हमें पाश्चात्य देशों के साहित्य से भी भली प्रकार परिचय प्राप्त करना होगा। हमें अपने भूतकाल से बहुत कुछ सीखना है और यूरोप और अमरीका से भी बहुत कुछ सीखना है। ये ही वे दो पहिये हैं जिनके सहारे हमारे देश के जीवन और साहित्य का जलूस आगे बढ़ सकता है।

साभार : उर्दू भाषा और साहित्य